

आहर—पइन एवं गोआम ही क्याँ?!



आहर—पडन एवं गोआम ही क्योँ?

रवीन्द्र कुमार पाठक

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद

(साउथ एशियन डॉयलॉगस् ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)

© दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद, 2015

प्रकाशक :

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद

(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी
सीमेनपू फाउंडेशन के वित्तीय सहयोग से)

बी ई - 14 ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स,
मुनिरका, नई दिल्ली - 110067

Published by

South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)

(With financial support from Siemenpoo Foundation, Finland)

B E - 14 A, D.D.A. Flats,

Munirka, New Delhi- 110067

Phone: 011- 26101580

Email: networkscommunication@gmail.com

आहर—पड़न एवं गोआम ही क्यों?

उपलब्ध एवं कारगर है।
किसान समुदाय की संपत्ति है।
सिंचाई के लिये शुल्क नहीं लगता।
पर्यावरण का मित्र है।
भूमिगत जल भंडार बढ़ाता है।
रखरखाव एवं मरम्मत सरल है।
सरकारी नियंत्रण से बाहर है।
सहयोग एवं उपभोग के सिद्धांत पर आधारित है।

अध्याय एक : आहर—पड़न शंका समाधान
अध्याय दो : धरती एवं समाज
अध्याय तीन : तकनीक और कानून
अध्याय चार : सुनहले भविष्य की ओर

आहर—पड़न एवं गोआम ही क्यों ?

आहर—पड़न आधारित खेती पर दक्षिण बिहार के अधिकांश गाँव निर्भर हैं। गैर—नहरी क्षेत्रों में तो आहर—पड़न से खेतों की सिंचाई होती ही है, कोयल, सकरी, सोन, दुर्गावती आदि नदियों से निकाली गई नहरों के इलाकों में भी आहर—पड़न से सिंचाई हो रही है। आहर—पड़न वाले इलाकों के किसान निर्भर तो इसी पर हैं पर सपना अभी भी नहरों का देख रहे हैं।

यह किताब किसानों को सपनों की दुनिया से निकालकर अपनी जोत—जमीन की हकीकतों वाली दुनिया में लाने के लिए लिखी गई है। इसमें नया कुछ भी नहीं है, भूली—बिसरी बातों को याद दिलाया गया है, अधिकारों के साथ कर्तव्यों का भी स्मरण कराया गया है। आहर—पड़न आधारित खेती हजारों सालों के अनुभव, प्रयोग एवं सुधार पर विकसित पूर्णतः सफल पद्धति है।

पड़न एवं आहर की युगलबंदी से मगध का पूरा क्षेत्र खेती में उन्नत था। पालि ग्रंथों के अनुसार यहां के गाँव आरंभिक स्तर पर ही साढ़े तेरह सौ भिक्षुओं वाले संघ को भोजन कराने में सहज सक्षम थे। ये जलस्रोत भी ऐसे कि उनसे हुए अनिष्ट का कोई वर्णन इतिहास में नहीं मिलता। हिमालय की झीलों या बाँधों के टूटने से हुई विनाश लीला की चर्चा तो होती है लेकिन मगध के किसी जलाशय से विनाश की नहीं।

आहर वैसा जल भंडार है, जो खरीफ की फसल के लिए पानी संग्रह करता है। रबी की खेती आहर से पानी निकालकर की जाती है। आहर, पड़न आदि संरचनाएँ अनिवार्यतः त्याग एवं सामूहिकता सिखाती हैं। यहाँ नदियों का स्वभाव है कि उनका तट पास की जमीन से ऊँचा हो जाता है। नदी से जहाँ पर पड़न या नहर निकाली जाती है, प्रायः उस स्थान के लोग या तो पानी से वंचित रह जाते हैं या बहुत कम लाभ उठा पाते हैं। जिसकी जमीन पानी में डूबती है, वह कम लाभ उठाता है।

इस प्रकार पानी का स्वभाव धार्मिक है। इसका मिजाज संतों की धार्मिकता वाला है। जैसे संत, बोधिसत्व, साधु, फकीर आदि साधना की उच्च भूमि से उतरकर लोक कल्याण के लिए बिना भेद—भाव घूमते रहते हैं, वैसे ही बहता पानी निर्मल होता है। रमता योगी, बहता पानी ही ठीक रहता है। रमने एवं बहने में एक

बात छुपी हुई है। पानी को पूर्णतः रोककर रखा नहीं जा सकता है। धान की खेती वाले इलाके में लोकमान्य नियम है कि आप जिसकी ओर अपनी जरूरत से अधिक पानी को छोड़ते हैं या जाने देते हैं उनका हक बनता है कि आपकी जमीन, नदी, नाले, आहर, तालाब आदि संरचनाओं से पानी प्राप्त करें। ऐसे पानी को कहीं-कहीं निगार भी कहते हैं।

आज व्यक्ति से लेकर राजा तक, अधिकांश लोग पानी की सामुदायिकता को नष्ट करना चाहते हैं फिर भी यह नष्ट होने वाला नहीं है। क्या कोई भी वर्षा जल को पूर्णतः रोक सकता है? जलस्रोतों का निर्माण सामुदायिक किंतु धार्मिक भाव से किया जाने वाला परोपकारी कार्य है। अंगरेजों को और उनकी विरासत वाले भारतीय शासकों को यह बात पसंद नहीं आती। वे लोक, समूह, गाँव एवं समाज की सामूहिकता तथा स्वायत्तता के विरुद्ध हैं।

आज आधुनिक साइंस एवं इंजीनियरिंग को देखकर कुछ लोगों को लगता है कि संसार की सारी समस्याओं का समाधान उन्ही कुछ लोगों के पास है और बाकी के लोग मूर्ख हैं। आहर-पड़न आधारित खेती भी तो पुरानी बात है। परंतु यह भ्रम अब टूट गया। पानी की व्यवस्था के बारे में अब भेद उजागर हो गया कि नहरें तो पानी की लूट पर निर्भर हैं। जो लुट गया वो रोता है और लुटेरे अपने को साहब बहादुर की तरह महसूस करते हैं, जब तक उनका पानी भी कोई दूसरा लूट न ले। सोन में पानी की कमी पड़ गई है। उत्तर-प्रदेश एवं मध्यप्रदेश के बाँधों से बचा पानी ही आ सकता है। इसका बुरा प्रभाव हो रहा है और नहरी क्षेत्रों में भी किसानों को पर्याप्त तथा समय पर ठीक से पानी नहीं मिल रहा है।

तब हम क्या करें? किसी नई नहर के बनने की आशा एवं दुविधा में अनिश्चित काल तक हाथ धरे बैठे रहें या अपने आहर एवं पड़न की मरम्मत कर खेती में सफल हो जायँ? मैं आपकी सफलता का हिमायती एवं पैरवीकार हूँ, आशा में बरबाद होने का नहीं।

इन आहर-पड़नों की देखरेख, मरम्मत, पानी के बँटवारा आदि की सारी व्यवस्था किसानों की सहभागिता पर आधारित है। इन कामों की पहल एवं संयोजन का काम स्वतंत्रता प्राप्ति एवं जमींदारी उन्मूलन के पहले जमींदार एवं गाँव के 'जेठ रैयत' करते थे। आज आजादी के बाद किसान 'गोआम' तो करते हैं किंतु इसकी संगठित एवं कानूनी प्रावधानों के अनुरूप व्यवस्था नहीं है। इस सहभागिता आधारित सिंचाई को कानूनी भाषा में 'प्राइवेट एरिगेशन' कहते हैं।

नए कानून एवं सरकारी नियमावली 2003 में भी इसे 'प्राइवेट एरिगेशन' ही कहा गया है। नहरी क्षेत्र में भी अब पानी की व्यवस्था की जिम्मेवारी से सरकार अपने को पीछे हटाते हुए किसी भी व्यावसायिक/गैर व्यावसायिक संस्था, कंपनी या किसानों के संगठन को भी प्रमुखता के आधार पर पूरी सिंचाई प्रणाली के प्रबंधन, रखरखाव, पानी के बँटवारे एवं सिंचाई शुल्क वसूलने का काम सौंप रही है। किसानों के ऐसे संगठन को 'वाटर यूजर एसोसिएशन' कहा जाता है।

गैर नहरी क्षेत्रों में विभिन्न संस्थाएँ पड़न चलाने के काम में आगे आ रही हैं। यहाँ तक तो खैरियत है लेकिन खतरे की बात यह है कि व्यापारिक संस्थाएँ कल किसानों से मनमाना पैसा वसूलेंगी जो अभी तक जन सहभागिता आधारित बिना शुल्क सिंचाई कर रहे हैं। इस कार्य के लिये सरकार से सहायता एवं अनुदान भी मिलता है। इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि किसान स्वयं विधिवत संगठित होकर अपनी गोआम कमिटियों का गठन करें और बाहरी कंपनियों/ठेकेदारों को पानी की व्यवस्था पर बाजारू एकाधिकार करने से रोकें अन्यथा मनमाना वसूली का कष्ट झेलना पड़ेगा। यह काम अपने एवं आनेवाली पीढ़ी के हक में बहुत ही जरूरी है।

अभी भी बहुत सारे किसानों को इस कानूनी बदलाव और बाजारीकरण की जानकारी नहीं है। अतः मगध जल जमात इस जानकारी के साथ आप सभी किसानों से अनुरोध करता है कि समय से सजग होकर विधिवत अपना संगठन स्वयं बनाकर अपने अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए आगे आएँ। आपकी सुविधा के लिये मगध जल जमात की ओर से जिला स्तरीय **गया जिला आहर-पड़न गोआम समिति संघ** का विधिवत् निबंधन कराया गया है। इसमें जिले की सभी गोआम समितियाँ रहेंगी। हमारे साथी गांव-गांव घूमकर यह काम करा रहे हैं। इसकी सदस्यता के बाद आपको निबंधन की समस्या भी नहीं होगी और बड़े संगठन का लाभ भी मिलेगा। संगठन जरूरी है, निबंधन तो केवल सहायता एवं सुविधा के लिए है।

निवेदक

रवीन्द्र कुमार पाठक

संयोजक

मगध जल जमात

अध्याय एक : आहर—पड़न शंका समाधान

आहर—पड़न पर चर्चा करने के पहले जरूरी है कि इसके बारे में बनी गलत धारणाओं एवं सच्चाई से भी रूबरू हुआ जाय। इसलिये मैं शुरु में ही कुछ ऐसी बातें कर रहा हूँ ताकि अगर मन में कोई दुविधा या शंका हो तो मिट जाये। आदमी के मन में शंका हो तो पहले उसका समाधान करना जरूरी होता है। किसानों के मन में उभरे सवालों एवं शंकाओं का समाधान जरूरी है। तभी महसूस होगा कि यह काम करना सही है और जरूरी भी, और फलौं बात बेतुकी तथा बेकार है। आइए, ऐसी ही कुछ चर्चाओं, शंका समाधानों से हम भी परिचित होते हैं। विचारणीय विषय हैं —

शंका समाधान एक : बोरिंग / नलकूप या आहर—पड़न सस्ता कौन?

दूसरे की बीवी हो या बेटा, उसकी लालच करने या उससे तुलना करके दुखी होने से अच्छा है कि दूर का ढोल सुनना बंद करके अपने हाल को समझें। सरकारी इंजीनियर एवं ठेकेदार जान—बूझकर गलत प्रचार करते रहते हैं कि आहर—पड़न बेकार है; बोरिंग बनाओ, स्वावलंबी बनो। इसमें डीजल किसकी जेब से लगेगा? धान की खेती में चार—पाँच बार तक पटवन देना होता है। जितने का बाबू नहीं, उतने का झुनझुना। आहर—पड़न से बिना पंप के ढाल आधारित मेलबानी पटवन होता है। इसकी व्यवस्था में मजदूरी भी कम लगती है। यहाँ—वहाँ पंपिंग सेट को ढोना भी नहीं पड़ता। जमीनी पानी की तुलना में ऊपरी पानी से पौधों को बहुत फायदा होता है। सतही जल में जैव कचरा—खाद भी रहता है। इससे जमीन की ऊर्वरा शक्ति बढ़ती है। पंप भी तो तभी न चलेंगे जब जमीन के भीतर जल स्तर (पानी का लेयर) ठीक रहेगा। आप किसान लोग लेयर भागने (नीचे जाने) की समस्या से अच्छी तरह परिचित हैं।

हमलोगों ने बहुत अच्छी तरह से कई पड़नों पर हिसाब लगाया तो पाया कि सामान्य रखरखाव के लिए प्रति बिगहा अधिकतम एक लीटर डीजल की कीमत के बराबर खर्च बैठता है और बड़े पैमाने की मरम्मत के लिए 3 लीटर की कीमत के बराबर। आप ही सोचिए, सस्ता कौन हुआ? अगर सरकारी सहयोग मिल जाय तो खर्चा केवल एक लीटर का आता है। अगर पड़न से सिंचाई में पानी के बँटवारे अर्थात् भव (मुँह) बाँधने, खोलने का खर्च अतिरिक्त समझें तो पंपिंग सेट लाने, ले जाने, चोरी जाने की समस्या ज्यादा खर्चीली, समय खाने वाली और जोखिम वाली है। पड़न में निगरानी कम और मिल—बांटकर करनी पड़ती है लेकिन पंप के मामले

में ज्यादा निगरानी रखनी होती है और बोझ एक—दो परिवारों पर ही आता है ।

शंका समाधान दो : आगे कौन आए?

पहले तो जमींदार लोग गोआमी कराते थे और कभी—कभी जोर जर्बदस्ती भी होती थी । अब किसान लोग अँग्रेज और जमींदार दोनों से मुक्त हो गए हैं । हर आदमी अपना मालिक खुद है । इस प्रकार एक ओर तो हम आजादी का सुख भोगना चाहते हैं और दूसरी ओर यह भी चाहते हैं कि कोई दूसरा आदमी हमें डंडे से जानवर जैसा हाँके या कोई संत या मसीहा आए और हमारा काम वही कर दे । यह तो ईमानदारी नहीं हुई । आजाद और जिम्मेदार आदमी पहल भी खुद ही करता है । लोकतंत्र में जिम्मेदारी जब सबकी है, फायदा सभी उठा रहे हैं तो भार भी सबको लेना होगा । हाँ, पहल कोई भी कर सकता है । अगर कोई पहल करे तो, उसे जिम्मेदारी तो उसकी क्षमता के अनुसार ही देनी चाहिए और अपना कंधा भी लगाना चाहिए । इसी तरह की कई बातें और भी हैं । इन बातों पर साफ—सुथरी समझ बनानी चाहिए ।

शंका समाधान तीन : अधिकार और कर्तव्य

आहर—पड़न एवं गोआम (उसकी रखरखाव एवं पानी के बँटवारे के लिए समुदायिक सहभागिता की परंपरा) नई बात नहीं है । आज भी लोग आहर—पड़न से सिंचाई कर रहे हैं । गोआम के बारे में नये लोगों को लगता है कि यह ठीक नहीं है । सरकार को ही व्यवस्था एवं बँटवारे की जिम्मेवारी लेनी चाहिए और पूरा धन उसे ही खर्च करना चाहिये । परंतु इस मामले में वे भूल जाते हैं कि नहरों से सिंचाई पर शुल्क लगता है और उसकी दर भी सरकार ही तय करती है । आहर—पड़न से सिंचाई पर तो शुल्क लगता ही नहीं और पानी का बँटवारा भी लोग परंपरानुसार आपस में ही करते हैं । यह परंपरा कोई गुप्त या रहस्यमय बात नहीं है । बाकायदा आबपाशी रजिस्टर में गाँवों के अधिकार एवं कर्तव्य वर्णित रहते हैं । आज किसान आहर—पड़न से सिंचाई पर अपना आबपाशी का अधिकार तो मानते हैं पर कर्तव्य दूसरोंके हवाले कर देना चाहते हैं, चाहे वह सरकार हो या गाँव का ही दूसरा व्यक्ति । यह तो सरासर बेईमानी है ।

चाहे गाँव के बेरोजगार नौजवान हों या सरकार में बैठे कर्मचारी—अधिकारी, आधुनिक पढ़ाई वाले लोगों ने अपने मन से ही मान लिया है कि संपत्ति केवल दो ही प्रकार की होती है — सरकारी या निजी । जबकि आज भी

कई और तरह की संपत्ति होती है—जैसे, व्यक्ति की संपत्ति, परिवार की संपत्ति, जाति की संपत्ति, ट्रस्ट की संपत्ति आदि। तब गाँव की संपत्ति क्यों नहीं होगी? और जब रखरखाव की जिम्मेवारी के समय आहर—पड़न गाँव की संपत्ति नहीं है तो उसके पानी का उपयोग करने के लिए कैसे गाँव या किसी किसान को मुफ्त में हक मिलेगा। आहर—पड़न एवं उसमें बहने वाला पानी सामुदायिक संपत्ति है। कानूनन तो सरकार भी अगर इसका अधिग्रहण करे तो उसे मुआवजा देना होगा, पर मांगता ही कौन है?

शंका समाधान चार : पानी कैसी संपत्ति है ?

अभी तक मोटे तौर पर हम चल एवं अंचल संपत्ति का बँटवारा जानते हैं जबकि नये जमाने में खाली जमीन, ज्ञान, तरंग आदि को भी संपत्ति माना जाने लगा है। पानी का स्वभाव चल संपत्ति वाला है। यह गाय—भैंस जैसा है। पानी स्वयं निर्जीव है, पर इसमें अनेक सूक्ष्म एवं घड़ियाल जैसे बड़े जानवर भी रह सकते हैं। आहर—पड़न में आसमानी वर्षा से जल आता है। जंगल, पहाड़ या किसी पठार, टाट जैसी ऊँची जगह या बहते हुए नाले या नदी से गुजरते हुए जल को आहर में संग्रह किया जाता है। आहर में इकट्ठा करने के लिए परंपरा से निर्धारित ऊपरी स्रोत के जल एवं आहर में संग्रहित जल, दोनों को लोग अपनी संपत्ति मानकर व्यवहार करते हैं।

आहर से पानी खेतों में जाता है और खेतों से बाहर निकलता हुआ नीचे की ओर बहता है। आहर का जमा पानी अगर किसी की संपत्ति है तो आहर—पड़न टूटने पर उस पानी से होने वाली क्षति की जिम्मेवारी भी संपत्ति मानने वाले किसान को लेनी होगी। गाय हमारी, दूध निकालें हम, और फिर गाय को दूसरे का खेत चरने को छोड़ दें, यह न्यायपूर्ण नहीं है।

धार और निगार

पानी के संरक्षण, भंडारण, वितरण और उपयोग के मुद्दे भारत में वैदिक काल से आज तक अनेक कारणों से विवाद में रहे हैं। वैदिक कथाओं के अतिरिक्त भगवान गौतम बुद्ध के गृहत्याग का मूल कारण बूढ़ा, बीमार और शव नहीं, उनके कुल शाक्य एवं पड़ोसी कोलिय के लोगों के बीच नदी के पानी के उपयोग को लेकर प्रतिवर्ष होने वाले युद्ध से भारी संख्या में नौजवानों की मौत होती थी जिसकी संख्या बढ़ ही रही थी। वे किसी को समझा नहीं पा रहे थे। जब उन्होंने स्वयं परिवार, गोत्र, एवं राज्य की सीमा की अपेक्षा विराट व्यक्तित्व हासिल कर लिया, तब

जाकर वह समाज को समझा सके। और उसमें भी अपने परिवार के सदस्यों को तो नहीं ही समझा सके, न अनुशासित कर सके। लेकिन मगध के लोगों ने इसे सुलझा लिया क्योंकि रहना भी साथ है और खेती भी करनी ही है।

दक्षिण बिहार में धार एवं निगार, दोनो शब्द व्यापक रूप से देहात में लोगों को मालूम हैं। पानी का अपना स्वभाव यात्री का है। वह रास्ता मिलते ही चल पड़ता है — गुरुत्वाकर्षण के बल पर समुद्र की ओर और केशिकाकर्षण, वाष्पीकरण, वायुमंडलीय दबाव आदि के बल पर आसमान की ओर, जमीन के अंदर के जलभंडारों से पेड़ की फुनगी की तरफ और समुद्र से हिमालय की ओर। पानी की बड़ी यात्रा जलचक्र कहलाती है — समुद्र, बादल, पहाड़, नाले, नदी, और फिर समुद्र। इस बड़ी यात्रा के साथ—साथ पानी छोटी—छोटी यात्राएँ भी करता है। वाष्पीकरण, पेड़—पौधों, जीवों के शरीर के भीतर की यात्रा, आकाश में ओसकण बनने—बिगड़ने की यात्रा, भूमि की सतह एवं उसके भीतर जलभृतों की यात्रा, जमीन के भीतर—भीतर ही बहने वाली नदियों—नालों की यात्रा। ऐसी अनेक यात्राओं के द्वारा जल प्रकृति में जीवन को स्थिरता एवं गति, दोनो देता रहता है।

पानी के साथ मनुष्य का रिश्ता बड़ा विचित्र है। पानी सबको चाहिए और वह भी सीमित मात्रा में क्योंकि अधिक मात्रा में तो आदमी डूब जाता है।। इसके लिए पानी की धारा का उपयोग उसके सामर्थ्य की सीमा में होना जरूरी है। इसके साथ—साथ अधिक पानी एवं उपयोग किये गये पानी, दोनों का निकास भी जरूरी है। सभ्यता के विकास के क्रम में प्राकृतिक नियमों के अनुरूप चलने एवं वैकल्पिक व्यवस्था कर लेने की सुविधा ने मनुष्य को अहंकारी बनाया है। परिणामतः मानव कभी—कभी यह भी मानने लगता है कि वह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध जा रहा है।

धार अर्थात् धारा, जो सहज ढाल पर बहेगी। जितनी अधिक वर्षा उतनी बड़ी धारा। जितनी अधिक ढाल, उतनी तेज रफतार। जहाँ ठहराव वहाँ जमीन और फसल के साथ क्रिया—प्रतिक्रिया। वर्तमान दक्षिण बिहार में साल में 100 से 150 से. मी. वर्षा होती हो जोकाफी है। दक्षिण से उत्तर—पूर्व की तरफ ढाल भी अच्छी है। पठार से मैदानी भाग की ओर जल—यात्रा पथ है। हाँ, यह औसत के हिसाब से या सीधी, समान ढाल नहीं है। पठार एवं पहाड़ी के नीचे मैदान हैं। यहां मुख्यतः धान की खेती होती है, जिसके लिए खेतों में लगातार पानी बहते रहना चाहिए। 'बहते रहना' सुनने में जितना सरल है, इसकी शर्तें उतनी ही कठिन हैं। वर्षा हर समय तो होती नहीं है। वह अपने मनमिजाज से होती है। तो जरूरी है कि खेत से ऊँची जगह पर जल का भंडार बनाया जाय और उसमें उससे भी ऊँची जगह से पानी

लाया जाय, जैसे पहाड़ी, टीला, पठार या नदी के ऊपरी भाग आदि से।

यह आदि भी कम मजेदार नहीं है जिसमें बाढ़ के समय उफनती नदी का ऊपरी जल सम्मिलित है। यह एक तरह से नदी से प्राप्त होनेवाला अतिरिक्त पानी है। जलाशयों तक पानी आ जाय तो खेतों में बहे, वह भी ऊपर से नीचे तक सबके खेतों में। पानी अधिक आ जाय तो नीचे की तरफ बहकर चला जाय ताकि फसल बरबाद न हो। पानी के बाहर जाने की इसी व्यवस्था को **निगार** कहते हैं।

किसी ढाल पर स्थित ऊँचे खेत से नीचे के खेत में पानी जाना ही है तो क्यों न इसे ही सामाजिक नियम मान लें? लोगों ने मान लिया। इस व्यवस्था में सबसे ऊपरी और सबसे निचले खेत को कभी-कभी हानि हो जाती है। फिर भी नियम यही मान्य है। काम इसी तरह चलता है। निचली खेत वाला भी निश्चिंत रहता है कि उसके खेत तक पानी आना ही है। हाँ, वह अधिक पानी ऊपर से नीचे छोड़ने पर रोक नहीं लगा सकता। इसीलिए खेती करने के मुद्दे पर आधुनिकता के नाम पर व्यक्तिवादी एवं सामुदायिकता विरोधी खेती के लिए सरकार एवं कंपनियों द्वारा दिये गये अनेक प्रशिक्षण बेकार हो जाते हैं क्योंकि वर्षा का पानी अपने प्रवाह एवं सामर्थ्य के अनुसार किसानों को सामूहिक निर्णय करने पर विवश कर देता है।

नदी सिद्ध कर देती है कि जल का वेग केवल ढाल की सीमा में रहकर समुद्र यात्रा तक बलवान होता है। वह समुद्र के पानी को भी नदी में घुसने नहीं देता और समुद्र के किनारे भी इन नदियों से मीठा पानी उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार धार एवं निगार की व्यवस्था प्राकृतिक रूप से प्रभावकारी रहती है।

समझदार लोगों ने वर्षों के अनुभव के आधार पर समझा कि मानवनिर्मित जलभंडारों के या तो ढाल-प्रवाह पथ से नीचे गड़ढा खोदकर बनाया जाय, जो तालाबों के रूप में सर्वाधिक सफल है, या अगर छोटी-मोटी ऊँचाई वाला तटबंध भी बने तो प्रवेश (धार) एवं निगार (निकासी) की व्यवस्था सुदृढ़ रहे। इतने पर भी गाद की सफाई नियमित अंतराल पर चलती ही रहती थी, चाहे वह कुँआ ही क्यों न हो। आज के चिंतन में दुर्भाग्यवश न तो धार की चिंता है, न निगार की, न गाद की। उत्तरी बिहार के जलाशय एवं नदियाँ गाद की भयानक समस्या से ग्रस्त हैं।

शंका समाधान पाँच : नहर के आकर्षण का रहस्य

प्रायः पढ़े-लिखे लोग यह पूछते हैं कि आहर-पड़न नहर से बेहतर कैसे हैं जो आप नहर की जगह आहर-पड़न के पक्ष में हैं। सच यह है कि नहर बेईमानी पर

आधारित है। उदाहरण के लिए, सोन नहर दक्षिण बिहार की बड़ी नहर है। छत्तीसगढ़ की एक पूरी रियासत, सैकड़ों गाँवों को डूबोकर रिहद-वाणसागर जलाशय बने। वहाँ के किसान आज भी दुर्दशा में हैं। सोन नहर के किसान दूसरे इलाके के पानी पर निर्भर हैं और अब मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, झारखंड –सभी सोन में पानी पहुँचानेवाली सहायक नदियों का पानी रोक रहे हैं और झगड़ा भी हो रहा है।

इससे भिन्न, स्थानीय छोटी नदियों पर बनी नहरों एवं पड़न में समानता यह है कि दोनों ही आस-पास की वर्षा पर निर्भर हैं, किसी संचित भंडार पर नहीं कि पानी की गारंटी रहे। पहाड़ी पड़नों में आस-पास की पूरी वर्षा का सदुपयोग करने के लिए इसे खूब घुमावदार बनाया जाता है ताकि थोड़ी वर्षा में भी पड़न चल सके। नहरें तो नदी में पर्याप्त पानी आने पर ही चलेंगी। नहर में जल प्रवेश का स्थान एक होता है जबकि पड़न में अनेक। गया जिले की बरसाती नहरों से आहर-पड़न बेहतर हैं क्योंकि पड़न के साथ तो आहर रूपी जल भंडार है परंतु इन नहरों में भंडारण की व्यवस्था नहीं है। इन पर बने बैराज भी केवल जलस्तर को उठाने का काम करते हैं।

आहर-पड़न व्यवस्था निर्माण एवं रखरखाव की दृष्टि से कम खर्चीली है। आहर छोटा भंडार होता है। छोटी नहरों में तो भंडार होता ही नहीं है इसलिए ये प्रायः असफल हैं या किसान इसका पड़न की तरह उपयोग कर आहर में पानी भर लेते हैं। आहर-पड़न पर हमारा परंपरागत कानूनी अधिकार है। इसके लिए सिंचाई शुल्क नहीं देना पड़ता। अब नहर से सिंचाई के लिए शुल्क लगातार बढ़ता जा रहा है और निजीकरण (जो हो गया) के बाद अचानक नहर से सिंचाई का खर्च भी डीजल की कीमत की तरह बढ़ेगा तब तक मामला आपके हाथ से निकल चुका होगा। आहर-पड़न के लिए संगठन बनाकर अगर सिंचाई का प्रबंध करें तो यह खर्च अपने नियंत्रण में रहेगा।

जिन पड़नों में नई तकनीक का इस्तेमाल बिना सोचे समझे होता है, उसके मुहाने पर गड्ढा बन जाता है या बालू भर जाता है। इसमें दोष पड़न का नहीं, बेदिमागी नकल का है। जब इंजीनियरों को आहर-पड़न के बारे में पढ़ाया-सिखाया ही नहीं जाता तो वे क्या उपाय बताएंगे? दक्षिण बिहार के बाहर से आये पदाधिकारी और इंजीनियर आहर एवं तालाब का फर्क ही नहीं समझते। वे यहाँ तक मान लेते हैं कि आहर में रैयती जमीन ही नहीं होती और इसका पानी समय पर निकालना भी जरूरी नहीं होता है।

नहर केवल इसलिए बेहतर नहीं हो सकता कि हमें तो फायदा हो— दूसरों का नुकसान हो, तो हो। इसी तरह की नीयत से जब सभी बेईमानी करने लगे हैं तो समय पर पानी नहीं मिलता है और जब जरूरत नहीं रहती है तब रिहंद बाँध का पानी बाढ़ लाता है। इसके उलटा आहर टूट भी जाय तो एकाध बीघे की फसल बरबाद होती है, जान-माल का भारी नुकसान नहीं होता।

शंका समाधान छः : आहर-पड़न या नहर, किसे बनाना आसान?

जो पड़न किसी ऊँची पठारनुमा जगह, जिसे ठाट कहते हैं, या पहाड़ी नाले को मोड़कर निकाली जाती है, उसे सीधा बनाने की अनिवार्यता नहीं होती। पहाड़ी नाले के ही किनारे को कमजोर जगहों पर मजबूत कर देते हैं।

बनने के बाद भले ही बात समझ में नहीं आ रही हो लेकिन कई बार किसी-किसी प्राकृतिक नाले के बीच में ही आहर बना दिया जाता है। ऐसे में केवल आहर की दीवार बनानी पड़ती है। पड़न तो 80 पतिशत तक प्रकृति से बनी-बनाई मिल जाती है।

उत्तर प्रदेश एवं कई अन्य राज्यों में पंप आधारित नहरें बनी हैं। दक्षिण बिहार में मुंगेर जिले में ऐसी नहरें बनीं पर सफल नहीं हुई क्योंकि बिजली ही नहीं तो पंप कैसे चले? मतलब कि ढाल आधारित सिंचाई को छोड़ अन्य सिंचाई कृत्रिम ऊर्जा पर निर्भर रहेगी और मँहगी पड़ेगी। मुफ्त या चोरी के माल का गणित नहीं होता, चाहे बिजली ही क्यों न हो।

शंका समाधान सात : नलकूप क्यों नहीं?

नलकूप की सिंचाई स्वार्थी व्यक्तिवाद को बढ़ावा देती है, जिसमें जल संरक्षण की चिंता या प्रयास नहीं होता। फसल में लगनेवाले रोग, पानी की गुणवत्ता, जानवरों-पक्षियों से रक्षा आदि कई महत्त्वपूर्ण मामले सामूहिक खेती में आसानी से हल हो जाते हैं। दक्षिण बिहार का इतिहास एवं परंपरा हजारों साल की है। यहाँ अनेक प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएँ बनती बिगड़ती रहीं। जरासंध से लेकर ब्रिटिश जमींदारी तक सिंचाई व्यवस्था सुदृढ़ थी। अच्छी फसल और संतुष्टि दोनों थी। उसके बाद 1967 का अकाल क्या पड़ा। पूरा समाज ही दिग्भ्रांत हो गया?

राजा या सरकार की नजर में आहर—पड़न

राजा का सब पर स्वामित्व है और राज्य है ऊपरी तौर पर लोक कल्याणकारी और अंदरूनी तौर पर पूँजीपतियों के हितों का संरक्षक। केंद्र राज्यों में झगड़े करवाता है। प्रांतीय सरकारें जलस्रोतों की बंदोबस्ती, लोकहित ही नहीं, दलित हित में कर रही है। राजस्व उसका, मछली उसकी, मरम्मत दूसरे की। ऐसी कथाएँ अनेक हैं। ब्रिटिश राज में भी जो तालाब, आहर, पड़न आदि जमींदारों के कब्जे या सामूहिक अधिकार में थे उनकी मरम्मत जमींदारों की पहल पर हो जाती थी। अँगरेजों की नहर का पानी सिंचाई के लिए कम, परिवहन के लिए अधिक जरूरी होता था। अंगरेज विरोधी कई क्रांतिकारी गाँव हर साल नहर काटते और सामूहिक जुर्माना भरते थे।

आहर—पड़न के मामले में बात उलटी थी। जमींदार इसके लिए प्रायः तत्पर रहते थे। जिस जमींदार के इलाके में दानाबंदी की परंपरा थी, अर्थात् कर के रूप में राजस्व नगद न लेकर फसल का एक भाग लिया जाता था, वहां जमींदार इस बात के लिए स्वयं तत्पर रहता था कि फसल अच्छी हो और अच्छी फसल के लिये खेतों तक समय पर पानी भी पहुंचे। पानी संबंधी विवाद होने पर किसान एवं जमींदार, दोनों साथ रहते थे। ऐसे विवादों एवं मुकदमों की कथाओं से कानून की किताबें भरी पड़ी हैं। नगद राजस्व लेने की परंपरा आते ही जमींदारों की रुचि कम होने लगी। फिर भी, लोकप्रियता बहाल रखने के लिए वे तत्पर न रहने पर भी समर्थन करते थे।

इस समय जो कानून लागू है, उसमें सारी समस्याओं तथा उलझनों को सुलझाने की जिम्मेवारी जिलाधिकारी पर डालकर सरकार ने जिम्मेवारी से पिंड छुड़ा लिया है। जिलाधिकारी को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह जिस किसी भी एजेंसी को किसी भी आहर—पड़न की जिम्मेवारी सौंप दे। यह प्रावधान खतरनाक है एवं भविष्य में निजीकरण को बढ़ावा देने की नीयत से बनाया गया है।

अध्याय दो : धरती एवं समाज

दक्षिण बिहार की बनावट और चौहद्दी

दक्षिण बिहार मिश्रित भौगोलिक संरचना वाला क्षेत्र है। इसके दक्षिण भाग में झारखंड का पठार है। इनसे निकलने वाली नदियों का अंत दक्षिण बिहार के मैदानों में या गंगा में होता है। गंगा से दक्षिण की ओर अधिकतम 110 कि.मी. के लगभग पहुँचते ही पठारी क्षेत्र आ जाता है। कई स्थानों पर यह दूरी 50 कि.मी. से भी कम है।

दक्षिण की पहाड़ियों एवं उस के पास की पठारी भूमि से ही अधिकांश: छोटी-बड़ी नदियों का उद्गम होता है। इसमें कुछ इलाके ग्रेनाइट एवं नाइस वाली चट्टानों के हैं तो कुछ क्वार्ट्जाइट के। सोन से पूरब का इलाका मुख्यतः ऐसा ही है। गया से शेखपुरा तक की राजगिर शृंखला क्वार्ट्जाइट वाली है। फतेहपुर के आसपास मिश्रित क्षेत्र है। गया संधिस्थल है। गया से डोभी के पास अमारुत तक एक बड़ा घाटी-क्षेत्र है जिससे बना उँचा मैदानी भाग है। ऐसी संरचना अन्यत्र भी है किंतु छोटी है।

जमीन की तीव्रढाल पहाड़ी भाग में तो है किंतु दूसरी जगह वह बहुत कम हो जाती है। फलतः नदियाँ आरंभ से कुछ ही दूर जाकर बूढ़ी हो जाती हैं। सोन, पुनपुन, गंगा बड़ी नदियाँ हैं। सोन के उग्र स्वभाव के कारण इसे नद भी कहा जाता है। इसका पुराना नाम हिरण्यवाह भी है। हिरण्यवाह अर्थात् सोने को ढोने वाला। मोरहर, सोरहर, फल्गु, निरंजना, ढाढ़र, तिलैया, मंगुरा, जकोरी, धनार्जय, खूरी, पंचाने, सकरी, किउल आदि अन्य प्रमुख नदियाँ हैं। इनमें गर्मी में पानी रेत के भीतर बहता है। इसके साथ कुछ ऐसी छोटी नदियाँ भी हैं जो सालो भर बहने वाली सदानीरा हैं, जैसे - जमुने एवं पैमार। जमुने में गया शहर से लगभग 10 कि.मी. पश्चिम में चपरदह गाँव के पास एक बाँध भी है जिसमें पूरे समय पानी रहता है।

गंगा से सटे इलाके पूर्णतः मैदानी हैं। यहाँ 100 से 351 फीट गहरे नलकूप लगाए जाते हैं। गंगा का (यदि पर्यावरण प्रदूषण से मुक्त हो, तब भी) केवल ऊपर बहने वाला जल ही कल्याणकारी है। भूगर्भ जल रासायनिक प्रदूषण से प्राकृतिक रूप से भरा हुआ है। भूगर्भ शास्त्र की दृष्टि से चूँकि गंगा का निर्माण परवर्ती है अतः दक्षिण से आने वाली नदियों के द्वारा 100 फीट के नीचे अंतःस्रावी सरिताओं का पूर्व में सृजन हुआ है। पटना-दानापुर के लोग नलकूपों के माध्यम से गंगा के जल का नहीं अपितु सोन के जल का ही उपयोग अपने नलकूपों द्वारा करते हैं।

जमीन के भीतर लाल, मोटे दाने वाले बालू का पानी अमृत के समान है। दक्षिणी भाग में इसी प्रकार की बालुका राशि है। जमीन के नीचे जो बालुका राशि है वह कहीं किसी ढेर के समान तो कहीं टापू के समान होती है। अधिकांश स्थानों पर वह जमीन में दबी नदी ही होती है क्योंकि वस्तुतः वह किसी पुरानी नदी का भाग होती है और वर्तमान नदी की धारा से भी कई स्थानों पर उसका जुड़ाव होता है।

जमीन का सतही भाग और मिट्टी

उत्तर में गंगा नदी और दक्षिण में 150 मीटर समोच्च रेखा से आबद्ध छोटानागपुर उच्च भूमि के बीच औरंगाबाद, गया, नवादा, जहानाबाद, पटना और नालंदा जिलों में विस्तृत क्षेत्र को दक्षिण बिहार कहा जाता है। यह क्षेत्र भारत के अति-प्राचीन जनपद दक्षिण बिहार का समक्षेत्री है। गया, राजगीर और पाटलीपुत्र इसकी प्रचीनता के साक्षी हैं। इसका क्षेत्रफल 17,913 वर्ग कि.मी. और जनसंख्या 1.236 करोड़ है।

गंगा से कुछ ही दूरी पर बाढ़, बड़हिया एवं मोकामा इलाके के टाल क्षेत्र में जल जमाव की समस्या रहती है और अधिक वर्षा होने पर पटना, नालंदा आदि सभी समीपवर्ती जिले के क्षेत्र भी प्रभावित हो ही जाते हैं। उत्तर बिहार में बाढ़ वार्षिक आवृत्ति वाली समस्या है परंतु दक्षिण बिहार की नदियाँ भी कभी-कभार अपना प्रचंड रूप दिखाकर तुलनात्मक रूप से कम समय के लिए ही सही, बाढ़ तो लाती ही हैं।

दक्षिण बिहार लंबे समय से सुखी-संपन्न क्षेत्र रहा है। यह एक विस्तृत भूभाग है जो सोन नदी के पूर्व से क्यूल नदी के पश्चिम तक और गंगा के दक्षिण से चतरा की सीमा के उत्तर तक फैला है। इस विस्तृत भूभाग को बनावट के आधार पर मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है— 1.पठारी भाग, 2. घाटियों का मैदान 3.मैदानी भाग। पुराने भारतीय ज्योतिर्विद वराहमिहिर के अनुसार मगध क्षेत्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है — अनूप अर्थात् उपजाऊ मैदानी भू-भाग, जो जलोढ़ सामग्रियों से बना है तथा जांगल प्रदेश अर्थात् पठार एवं घाटियों से भरा भू-भाग। दक्षिण बिहार में मरुस्थल नहीं है। यहाँ की मिट्टी का निर्माण ज्वालामुखी के लावे, ग्रेनाइट, ग्रेनाइटिक फेल्डस्पार, सिस्ट, क्वार्ट्जाइट, सिलिका, बालू इत्यादि के विविध पत्थरों के अपरदन के कारण सम्मिश्रित जलोढ़ तथा कार्बनिक जैव पदार्थों से हुआ है।

ग्रेनाइटिक क्षेत्र

औरंगाबाद से बाराचट्टी, कौआकोल (नवादा) तक पश्चिम-पूर्व दिशा में तथा उत्तर से दक्षिण बराबर की पहाड़ियों से लेकर रानीगंज तक मुख्य रूप से ग्रेनाइट की बड़ी-बड़ी पहाड़ियों पर ग्रेनाइटिक फेल्डस्पार, सिस्ट, खड़िया तथा सिलिका पाए जाते हैं। इन पत्थरों का हवा-पानी में उपस्थित रसायनों की प्रतिक्रिया से धीरे-धीरे अपरदन होता गया, जिससे कंकड़ीली मिट्टी तथा केवाल का निर्माण हुआ है। फेल्डस्पार एक ऐसा पत्थर है जो त्वरित गति से मिट्टी में बदलता रहता है तथा वर्षा के पानी द्वारा अपनी घाटियों में लसीली मिट्टी का निर्माण करता रहता है।

क्वार्ट्जाइटिक क्षेत्र

बकरौर (बोधगया) से लेकर बिहारशरीफ तक दक्षिण-पूर्व दिशा में क्वारजाइट की पहाड़ियाँ हैं जिसे राजगृह पहाड़ी समूह के नाम से जाना जाता है। आगे बिहारशरीफ से पूर्व किउल तक पहाड़ियाँ चली गई हैं, जो बीच-बीच में टूट-टूटकर छोटी-छोटी पहाड़ियों या टीलों का भी रूप ले चुकी है। उनके बीच की घाटियों में छोटे-बड़े मैदानी क्षेत्र विकसित हो गये हैं। क्वार्ट्जाइट के अपरदन के बाद बालूवाली मिट्टी तथा सिलिका का निर्माण होता है। साथ ही इसमें मोरंग और क्वार्ट्जाइटिक फेल्डस्पार पाए जाते हैं जो भूमि निर्माण में मुख्य भूमिका निभाते हैं। इसमें भीठ तथा दोमट मिट्टियों का निर्माण होता है।

मिश्रण प्रक्रिया

दक्षिण बिहार में बहने वाली नदियों के उद्गम-स्थल मुख्यतः ग्रेनाइटिक क्षेत्र हैं। आगे ये नदियाँ क्वार्ट्जाइटिक क्षेत्र या ग्रेनाइट के पठारी क्षेत्र से होती हुई मैदानी भूभाग में प्रवेश कर गंगा में मिल जाती हैं। कुछ छोटी पहाड़ी नदियाँ मैदानी भू-भाग में भी फैलकर समाप्त हो जाती हैं। अधिकतर नदियाँ बरसाती हैं। कुछ में सालो भर पानी रहता है। इन नदियों के दोनों किनारों पर तथा अंत में भी दोमट/बलसुंदरी मिट्टी मिलती है, जो नदियों के द्वारा लाई गई जलोढ़ सामग्री वाली होती है। इस क्षेत्र का आधा भूभाग इस प्रकार निर्मित हुआ है। मगध क्षेत्र का आधा से कुछ अधिक भूभाग पहाड़ों एवं नदियों द्वारा निर्मित छोटा-बड़ा उपजाऊ मैदानी क्षेत्र है। प्रतिवर्ष नदियों द्वारा मिट्टी आने से कार्बनिक जैव पदार्थों की बहुलता के कारण मगध की भूमि में प्रचुर ऊर्वरा बनी रहती है।

ग्रेनाइट में मिले—जुले फेल्सपार एवं ज्वालामुखी के लावे से बनी केवाल मिट्टी तथा नदियों की जलोढ़ सामग्री से दोमट एवं बलसुंदरी मिट्टी का निर्माण हुआ है। दक्षिण बिहार में दोनों प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। दक्षिणी क्षेत्र में मिट्टी की बहुत कम मोटी परत मिलती है। मिट्टी के नीचे बालू या अतिसंक्षरित (मरे हुए) पत्थर पाये जाते हैं। इनके भीतर जल भंडार होता है। इन इलाकों में ढाल भी तीव्र हैं एवं कई छोटी—बड़ी नदियाँ भी बहती हैं। यहाँ जमीन के अंदर की परत कम मोटी है किंतु दाने बड़े होते हैं। उत्तर की ओर बढ़ने पर क्रमशः मिट्टी एवं बालू (जमीन के भीतर) दोनों की परतें मोटी होती जाती हैं। गंगा के किनारे तो सोन एवं पुनपुन के द्वारा जमा की गई बालू की दो—तीन मोटी परतें जमीन के भीतर पाई जाती हैं। इनमें प्रचुर मात्रा में जल बहता है।

जमीन के भीतर भी पहाड़ी, टीला, घाटी, नदी, नाला, झील आदि दबे हुए हैं। अतः मिट्टी, कंकड़, संरक्षित पत्थर, बालू आदि किसी निश्चित या नियमित गहराई में ही मिलें, यह जरूरी नहीं है। प्रायः ये मिले—जुले रूप में अंदर की बनावट के अनुसार मिलते हैं इसलिए कूप या नलकूप निर्माण के समय गहराई या बनावट संबंधी एकरूपता के आधार पर लिया गया निर्णय प्रायः विफलता देने वाला हो जाता है। इस झंझट के बावजूद नलकूप निर्माण के लिए सरकारी तथा गैरसरकारी स्तर पर इतने अधिक छिद्र हुए हैं कि लोगों को अब बनावट की जानकारी हो गई है। केवाल मिट्टी बहुफसली नहीं है क्योंकि उसमें जल जल्दी सूखता नहीं है। इसी तरह, यह पुनः जलसंभरण की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी नहीं है। सोन एवं पुनपुन के छाड़न क्षेत्र बलसुंदरी मिट्टी या बालू के टीलों से भरे रेगिस्तान की तरह लग सकते हैं किन्तु इन इलाकों में कम गहराई में प्रचुर मात्रा में जल मिलने से यहाँ भी अब सब्जी की खेती जमकर होती है। इन इलाकों में ताड़ के पेड़ जंगल के समान हैं। औरंगाबाद एवं अरवल जिले में ऐसी बड़ी चौड़ी पट्टी है। इसका कुछ भाग जहानाबाद एवं पटना जिले में भी पड़ता है।

ढाल कम होने एवं गंगा नदी के द्वारा सरिता निर्माण की प्रक्रिया में अपने तटों को ऊँचा करने के कारण एक बड़ा भू—भाग पानी से भरा रहता है। यह दक्षिण बिहार का उत्तरी क्षेत्र है। बाढ़ से बख्तियारपुर—मोकामा तक का टाल सभी जानते हैं। यह इलाका डूब क्षेत्र का है। गर्मी में कुछ इलाकों से तो पानी उतर जाता है किन्तु कुछ क्षेत्र पानी से भरे ही रह जाते हैं। दक्षिण बिहार क्षेत्र की पर्वतश्रृंखला एवं गंगा नदी के बीच पश्चिम में दूरी अधिक है जो पूरब में बहुत कम हो जाती है।

मगही समाज

मगध अतिवादी भूमि है। अतः यहाँ नए-नए प्रयोग होते रहते हैं। भगवान बुद्ध ने शायद इसीलिए मध्यम मार्ग में समाधान पाया। पानी और खेती भी अतिवाद से अछूते नहीं रहें। एक ओर "असल की बेटी, केवाल की खेती" का आदर्श है तो दूसरी तरफ बहुफसली अत्याधुनिक प्रयोगों की अंधी दौड़ जारी है। केवाल में एक बार भी अच्छी वर्षा हो जाने पर फसल मरती नहीं थी, चाहे वो रबी हो या खरीफ। धान के खेत में पैरा डालने पर भूगर्भ जल निकालने की आवश्यकता ही नहीं थी। आहर का पानी भी सुखा दिया जाता था। फिर उसमें रबी की फसल लगायी जाती थी।

समाज ने अपनी आवश्यकतानुसार शैली बदल ली। न ही विवाह का पारंपरिक रूप अब आदर्श है, न रबी और धान के खेत। खेत और औरत, किसी की भी गर्भावस्था में ठीक से देखरेख नहीं हो रही है। दोनों का बुरा हाल है। औरत या धान की बाली, दोनों की चोटी गूँथना किसान भूल गया। परिणामतः बच्चे बीमार होने लगे हैं और धरती अनुपजाऊ तथापानी की कमी से ग्रस्त। दोमट और बलसुंदरी जमीन वाले पहले उपेक्षित समझे जाते थे। अब इन इलाकों में "बालू सड़े तो सोना बरसे" की कहावत चरितार्थ हो रही है। इसके बाद भी केवाल इलाका पूर्व सामंतवादी समस्या एवं बलसुंदरी इलाका नव सामंतवादी उलझनों से ग्रस्त है। बहुफसली खेती एवं अंधाधुंध नलकूप निर्माण जोरों पर है।

जातियाँ एवं बदलते रिश्ते

सबसे पुरानी जातियों की बात करें तो दो विभाग हैं – एक भुइयां जमीन वाला और दूसरा भोक्ता जो उसके लाभ का केवल भोग करता है। इसीलिए भोक्ता अपने को राजा की संतान, क्षत्रिय मानते हैं। बिरहोर आदि इसी राजकीय श्रेणी वाले हैं। अब ये सभी दलित माने जाने लगे हैं। भुइयां को छोड़ अन्य आदिवासी एवं विलुप्त प्राय स्थिति में हैं। मोटे तौर पर बाकी के सब कालांतर में आये और मगध में बस गये। आज भी भुइयां और बेलदार के बिना मिट्टी का काम पूरा नहीं हो पाता। भोक्ता सिंह उपाधि रखते हैं।

दक्षिण बिहार में खेती, विवाह और पानी की व्यवस्था में जजमानी प्रथा 1960-70 तक चलती रही। किसान चाहे वह किसी जाति का हो, अपने मालिकाने वाली खेती करता हो या मनीदार (बटाईदार) हो, वह जजमान था। सवर्ण बटाईदार

भी काफी थे। बड़ई, लुहार, नाई, ब्राह्मण, माली, डोम, चमार, कहार, धोबी आदि पवनियाँ जातियाँ थीं। विवाह, श्राद्ध एवं खेती कराने में सबकी भूमिका थी। खेती भी एक यज्ञ था और उपज में सबको हिस्सा मिलता था। नगद मजदूरी बहुत कम चलन में थी। सालाना या पुश्तदर पुश्त करार वाले रिश्ते थे। हालांकि इनमें बदलाव एवं बँटवारे की गुंजाइश भी थी।

सामूहिकता, सामुदायिकता सामंती ढाँचे के साथ थी और ब्रिटिशराज में जमींदारी व्यवस्था गुणों से अधिक अवगुणों के लिए चर्चित रही। 'गोआम' मरम्मत का सामूहिक अभियान था जिसमें श्रम, सामग्री या नगद अथवा तीनों से सहयोग करना पड़ता था। यह कार्य कई बार जमींदारों के द्वारा बलपूर्वक कराया जाता था। छोटे जमींदार कई बार इसके विपरीत सिंचाई व्यवस्था को बरबाद भी करा देते थे ताकि किसान लगान न चुका पाए और उसकी जमीन जब्त कर ली जाय।

आधुनिकता और औद्योगिक क्रांति के पक्षधर लोगों ने सामंतवाद का भयावह चित्र प्रस्तुत कर व्यक्तिवाद को आदर्श घोषित कर दिया, जिसमें सामूहिक प्रयास के लिए मनोबल टूटता गया।

नहरी इलाके में तो सरकार नियंत्रित आधुनिक सिंचाई व्यवस्था से खेती हो रही है परन्तु आहर-पड़न इलाके में, जो आरंभ से ही प्राइवेट इरिगेशन एक्ट के तहत नियंत्रित थे, आज सामुदायिक प्रयासों के आरंभ एवं संचालन के लिए न कोई अधिकृत नहीं है और न ही जिम्मेवार।

पहले जमीन पर मालिकाना हक अधिकतर सवर्ण जातियों के पास था या कुर्मी, दांगी जैसी बीच की जातियों के पास। अब स्थिति बदली है। ब्राह्मण से लेकर भुइयाँ तक, अब सबके पास जमीन है और सभी खेती के काम में लगे हैं। इसी प्रकार संसाधनों के अभाव या दूसरे पेशे में लगने के कारण असवर्ण जातियाँ भी अपनी जमीन बटाईदारी पर दूसरों को सौंपने लगी हैं।

बाभन, खारापानी, केवाल और जलाशय

पालि सुत्तपिटक में कसि भरद्वाज सुत्त है। भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण हल जोत रहा है। उसके सामने गौतम बुद्ध को अपने आप को आध्यात्मिक खेती करने वाला हलवाहा किसान सिद्ध करना पड़ता है। मगध में खेती करना बुद्धकाल से ही मान्य था। यहाँ के ब्राह्मण भी हल जोतते थे। भूमिहार बाह्मणों का (जो प्रचलित रूप

में बाभन कहे जाते हैं) खेती से जबर्दस्त लगाव है। इनके गाँव के पास की जमीन अच्छी हो इतना पर्याप्त है। पेयजल के लिए इन्होंने भूगर्भ जल पर निर्भर रहना जरूरी नहीं समझा। यही हाल कुर्मियों का है। अनेक बड़े-बड़े भूमिहार आबादी वाले गाँवों में कुओंका पानी खारा होता है। इन गाँवों की पेयजल व्यवस्था पोखर पर निर्भर थी। परिणामतः इन्हें तालाबों की अच्छी देखभाल करनी पड़ती थी। डेकहा, लोहतमिया आदि पुराने चंद्रवंशी (वर्तमान कहार नहीं) क्षत्रिय मीठे पानी के क्षेत्र में रहना पसंद करते हैं, भले ही खेती थोड़ी कम उपजाऊ हो। 10-12वीं सदी के चंद्रवंशियों ने अनेक मंदिर और तालाबों की नगरियां बनाईं।

तालाबों के गाँव एवं नगरियाँ

तालाबों से भरी मगध की नगरियाँ निम्नलिखित थीं : गया धाम, नालंदा, क्रौंचपुरी (कोंच), उदंतपुरी, वजीरगंज, उमगा-देव एवं पावापुरी। वैसे कई गाँवों में भी बड़े-बड़े तालाब बनाए गये थे। मायर-शमशेर नगर(दाउद नगर) का तालाब बहुत बड़ा एवं यक्ष-यक्षिणियों द्वारा रक्षित सरोवर था। कुछ गाँवों में कई तालाब बनाये गये -4से 12 तक। गया के आसपास चांकद, ननौक आदि गाँवों में ऐसी व्यवस्था आज भी है। ये तालाब तेजी से लुप्त हो रहे हैं। मगध का पानी भी धीरे-धीरे धरती में गुप्त हो रहा है।

अध्याय तीन : तकनीक और कानून

परंपरागत सिंचाई की वर्तमान प्रणालियाँ

चर्चा प्रारंभ करने के पूर्व मगध की सीमा एवं परंपरा के अर्थ को समझ लेने से चर्चा को आगे बढ़ाने में सुविधा होती है। परंपरा शब्द का प्रयोग करते ही अतीत से लेकर वर्तमान की कड़ियाँ सामने आने लगती हैं। मगध की सीमा कई बार घटती-बढ़ती रही है। वस्तुतः यह मगध साम्राज्य की सीमा का बढ़ना या घटना हुआ है। सांस्कृतिक दृष्टि से मगध की सीमा लगभग स्थिर रही है। मेरी दृष्टि में कर्मनाशा के पूरब से प्रारंभ कर किउल नदी तक का क्षेत्र मगध का क्षेत्र है। इसकी उत्तरी सीमा गंगा नदी है और दक्षिणी सीमा छोटानागपुर का पठारी भाग। कुछ लोग सोन के पश्चिमी भाग को मगध नहीं मानते हैं। वे उसे भोजपुरी क्षेत्र समझते हैं लेकिन थोड़ी ही गहराई में जाने के बाद यह पता चलने लगता है कि वस्तुतः कर्मनाशा तक का भाग मगध क्षेत्र ही है। फिलहाल इस बहस को यहीं स्थगित किया जा रहा है।

जहाँ तक परंपरा की बात है, मेरी दृष्टि में बहुसंख्यक आबादी के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी अपने अनुभव एवं ज्ञान को आगे बढ़ाने वाली जीवन शैली ही परंपरा है। इस प्रकार परंपरागत व्यवस्थाएँ एक ही साथ पुरानी, गतिशील तथा जीवन एवं परिस्थिति के अनुकूल नए-नए रूप धारण करने वाली होती हैं। सिंचाई व्यवस्था के क्षेत्र में भी मगध का अपना पारंपरिक ज्ञान एवं अनुभव है।

मगध क्षेत्र कृषिप्रधान क्षेत्र है। यहाँ की अर्थव्यवस्था पूर्णतः कृषि पर आधारित है। शुद्ध बोया गया क्षेत्र 987 हजार हेक्टेयर है जिसके 90 प्रतिशत भाग पर धान की खेती होती है। सर्वप्रमुख फसल धान है। धान के सफलतापूर्वक उत्पादन के लिए नियमित पानी की जरूरत होती है। "धान-पान नित्य स्नान"। धान की सफल खेती के लिए जून में 100 मि.मी., अगस्त में 300 मि.मी सितंबर में 200 मि.मी. और अक्टूबर में 100 मि.मी. वर्षा की आवश्यकता होती है। यहाँ वर्षा भली भाँति वितरित नहीं है। वर्षा अनियमित, अनिश्चित और परिवर्ती है। यह परिवर्तिता लगभग 25 प्रतिशत हैं। इस वितरण में व्यतिक्रम उत्पन्न होने पर धान की फसल के मारे जाने की आशंका पैदा हो जाती है। जून में वर्षा कम होने पर धान के बीज की बोआई नहीं हो पाती है, जुलाई-अगस्त में वर्षा कम होने पर धान की रोपनी नहीं हो पाती और सितंबर-अक्टूबर में नहीं होने पर उपजी हुई धान की फसल मारी जाती है। इस हालत में सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है।

मगध की खेती ऐतिहासिक दौर में अग्रणी रही है। यहाँ खेती की प्रतिष्ठा रही है। बड़े-बड़े भिक्षु संघों और विश्वविद्यालयों का बोझ उठाना उन्नत खेती के बिना संभव नहीं था। उन्नत खेती और सिंचाई की व्यवस्था पर सभी राजा एवं जमींदार ध्यान देते थे। नए-नए जलाशय बनवाना और उसका रखरखाव तथा मरम्मत का काम सामाजिक और धार्मिक कार्य समझा जाता था। इससे जीवन में ही नहीं, मरने के बाद भी पुण्य की प्राप्ति होती है, ऐसा विश्वास रखा जाता था। नालंदा विश्वविद्यालय की दो सौ गांवों पर जमींदारी थी जहां से उसे दूध, दही, मक्खन, तेल आदि प्राप्त होता था।

आज भी मगध के ग्रामीण क्षेत्रों में परंपरागत सिंचाई की निम्न प्रणालियाँ मौजूद हैं – पड़न, आहर, पोखर, कूप एवं अन्य। इनके साथ कई उपकरण एवं नई विधियाँ भी मगध ने विकसित की हैं। नलकूप निर्माण का कार्य भी मुख्य रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान की शैली में विकसित हो रहा है। अतः नलकूप प्रणाली को परंपरागत व्यवस्था के अंतर्गत सिंचाई की परंपरा की नई कड़ी के रूप में मैंने स्वीकार किया है। सिंचाई की परंपरागत व्यवस्थाएँ यहाँ दीर्घ काल से अच्छी हैं। उनमें कुछ का आगे विकास हुआ तथा कुछ इस के क्रम में हैं जिनके बारे में आगे चर्चा होगी। इस क्षेत्र में प्रचलित सिंचाई व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं।

आहर

आ (समन्तात्) अर्थात् सामने से आने वाले, जल का जो हरण करे, रख सके वह आहर है। आहर की गहराई कम होती है और जल को शोधित करने वाली बड़ी मछलियाँ भी केवल ऋतुकालीन जल में विकसित नहीं हो पाती हैं। आहर के प्रति पवित्रता का भाव नहीं होता है। यह वर्षा के जल को संग्रह करने हेतु दो या तीन तरफ से बाँधकर बनाया गया जलाशय है। इन्हें अहरा भी कहा जाता है।

आहर आज भी गाँव-गाँव में देखने को मिलते हैं। दो पहाड़ियों के बीच के स्थान को भी एक तरफ से बाँध कर आहर बनाया जाता है। वास्तव में ये छोटी-छोटी झील जैसी संरचनाएँ होती हैं किंतु गाँव के लोग इन्हें भी टाल या आहर ही कहते हैं। ये अंग्रेजी के एल (स्)या यू (न) आकृति में बने होते हैं। कम ढाल का ऊपरी हिस्सा बंद कर दिया जाता है।

आहर सर्वत्र पाये जाते हैं। आहर को नदी या पहाड़ से निकलने वाली पड़नों से भी जोड़ा जाता है जिससे आहर में वर्षा का जल इकट्ठा कर लिया जाता

है। आहर से भी वितरण हेतु छोटी पड़नें निकाली जाती हैं। बिना अहरा के पड़न का लाभ केवल वर्षा होते समय ही उठाया जा सकता है। पड़न से आहर को भर लेने पर धान की खेती में लंबे समय तक उपयोग संभव होता है। आहर के पानी का उपयोग खरीफ की फसलों की सिंचाई में किया जाता है। बाद में उसका पानी निकालकर उसी अहरा में "रबी" की बुआई कर दी जाती है। आहर की जमीन एक फसली जमीन के रूप में प्रयुक्त होती है। औसतनहर वर्ग—किलोमीटर पर एक आहर पाया जाता है।

पड़न

पड़न इस क्षेत्र में बहते पानी के सदुपयोग का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। अधिकांश पड़नें नदी—नालों में बाढ़ आने की स्थिति में चालू होती हैं और बाढ़ समाप्त होने पर बंद हो जाती है। इससे ऊपरी क्षेत्र के लोगों को अतिरिक्त जल का लाभ मिल जाता है और निचले क्षेत्र के लोग उसके नुकसान से बच जाते हैं। इस अतिरिक्त जल को आहरों में संचित करके सुविधा के अनुरूप उसका उपयोग इस क्षेत्र के लोग लंबे समय से करते आ रहे हैं।

अनेक पड़नों के मुहाने अपने उदगमस्थल पर स्थित नदी—नालों की तली से ऊँचे होते हैं। ऐसी स्थिति में जलस्तर को ऊंचा उठाने के लिए मुहाने के ठीक नीचे बहाव को रोकना जरूरी हो जाता है। यह स्थिति उक्त उदाहरण जितनी अच्छी तो नहीं है लेकिन इन पड़नों का चालू रहना भी उनके द्वारा लाभान्वित होने वाले लोगों के लिहाज से आवश्यक है। इस स्थिति में नदी—नाले में ऐसा अवरोध खड़ा किया जाना चाहिए जो उसके प्रवाह को आंशिक व अस्थायी तौर पर ही रोके।

स्थायी बाँध वाली पड़नें और नहरें प्रवाहमान भूजल के सिंचाई हेतु उपयोग के बुरे उदाहरण हैं तथापि इनका निर्माण अगर हो चुका है तो उनमें जलप्रवाह जारी रखते हुए भी ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि उससे नीचे स्थित लोगों को भी पानी नियमित रूप से मिलता रहे और गाद की सफाई भी होती रहे। अतिरिक्त पानी नदी में वापस करने वाली निकासी पड़नों के निर्माण को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

भूमि की स्वाभाविक ढाल पर सिंचाई के लिए सामान्यतः नदियों से निकाली गई पतली, सँकरी और लंबी वाहिकाओं को पड़न कहते हैं। नदियों के

अतिरिक्त अन्य स्रोतों से निकाले गए छोटे-छोटे नालों को भी 'पड़न' कहा जाता है। ये नहरों के समतुल्य हैं। 'बहता पानी निर्मला' के सिद्धांत के अनुसार पड़न का जल पवित्र माना जाता है। पानी और पैन समानार्थक हैं पैन से पड़न का ध्वनिसाम्य प्रगट है। मैथिली में पानी को पाइन बोला जाता है। पाइन से भी पड़न का ध्वनिसाम्य स्पष्ट है।

पड़नें मुख्य रूप से दो प्रकार की होती हैं—(क) नदियों को या वर्षा के जल को रोककर नहर की भाँति बनाई गई और (ख) बिना बाँधे हुए समानांतर या सीधी ढाल के आधार पर बनाई गई।

कहीं-कहीं नदियों को बाँधकर छोटे-छोटे बांधों का भी निर्माण किया गया है तथा उनसे छोटी नहरें एवं नाले निकाले गए हैं, जैसे—घोड़ाघाट, तिलइया, निमसर का बाँध। नदियों को बिना बाँधे उसके ऊपरी भाग में ही नदी के समानांतर नाले का निर्माण किया जाता था औरउसे भी पड़न कहा जाता है। पड़न खेतों से ऊपर या बराबर में बहती हैं। इससे सिंचाई सुविधाजनक हो जाती है। आज भी इस प्रकार के पड़नों की उत्तम व्यवस्था नदी किनारे के इलाकों में देखी जा सकती है।

मगध क्षेत्र दक्षिण एवं पूरब दो तरफ से पठारों एवं पहाड़ियों से घिरा हुआ है। अतः वर्षा ऋतु में पहाड़ियों से बहते हुए वर्षा के जल को एक बड़े तालाब या पोखर में इकट्ठा करके भी आगे पड़नें निकाली जाती थीं, जिससे पानी इच्छित दिशा में नालों में बहता था। उससे खेतों को काफी आगे तक सिंचित किया जाता था तथा पहाड़ियों का पानी बिखरकर बरबाद नहीं हो पता था। वजीरगंज इलाके में आज भी इस प्रकार के पड़नें देखने को मिलती हैं। गया में ब्रह्मयोनि पर्वत के नीचे बना पड़न आज समाप्तप्राय है।

पड़नों की प्रत्येक वर्ष उड़ाही (बालू/गाद निकालना) करनी पड़ती है। पड़न से नदी द्वारा लाए गए कार्बनिक जैव पदार्थ सीधे खेतों को प्राप्त होते हैं। पहाड़ियों के ऊपर घाटी या छोटे मैदानी भागों के जलनिकासी वाले भागों में भी बाँध का निर्माण कर उससे पड़नें निकाली जाती थी, जैसेऔरंगाबाद जिले की उमगा पहाड़ी से निकली पड़न। कुछ ऊँचे मैदानी टीलों से भी पड़नें निकाली गई थीं। इसका बहुत अच्छा उदाहरण मगध विश्वविद्यालय के पड़न का अवशेष है। इनका उपयोग मुख्य रूप से खरीफ की सिंचाई में होती है। लेकिन यमुने आदि एकाध नदियों से निकली पड़नों में सालों भर पानी बहता रहता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, मगध क्षेत्र के किसानों ने अपनी प्रज्ञा से अति प्राचीन काल से ही सिंचाई के लिए सोन जैसे बड़े नद से पड़न का विकास किया है। आज से 4000 वर्ष पहले, जब मनुष्य ने यहाँ कृषि कार्य प्रारंभ किया था, तब वर्षा की कमी होने पर नदी जल का उपयोग वह सिंचाई के लिए करता था। नंद एवं मौर्य वंश के शासनकाल में भी तालाब, आहर और पड़न से सिंचाई के उदाहरण मिलते हैं। बरसात में नदियों का जलस्तर काफी ऊँचा हो जाता है। नदी तट, जो कभी-कभी आस-पास के अन्य क्षेत्रों से ऊँचा होता है और उसके दोनों तरफ गहरी जमीन होती है। ऐसी संरचना सरिता निर्माण के क्रम में सहज बनती जाती है। इन निचले इलाकों में या कुछ कम गहरे इलाकों में आहर बनाकर सोन एवं पुनपुन की पड़नों से बड़े-बड़े आहरों के भरने की व्यवस्था थी। ऐसे नालों एवं पुलियों के मौर्यकालीन अवशेष भरे पड़े हैं। नदी की ढाल के समानांतर चलने वाली पड़नों की संख्या सबसे अधिक है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र संभवतः पहला लिखित ग्रंथ है जिसमें इसका विस्तृत विवरण मिलता है।

यहाँ भूमि की ढाल तीखी (प्रति किलोमीटर 1.5 मीटर) है जिस कारण नदी का पानी शीघ्र बहकर निकल जाता है। जिस भूभाग में सिंचाई करनी होती है, उससे ऊँचे स्थान से पड़न निकाली जाती है। सामान्यतः पड़न के निकलने की जगह से डेढ़-दो किलोमीटर नीचे से सिंचाई प्रारंभ होती है। नदियों के समानांतर चलने वाली पड़न में नदी के जल-तल से अधिक ऊँचाई पर जल को चलते देखकर कौतूहल होता है। यह स्थिति पंचानपुर में देखी जा सकती है।

बड़ी पड़न से सैंकड़ों गाँवों की और छोटी पड़न से एक या कुछ गाँवों की सिंचाई होती है। बड़ी पड़न में शाखाएँ होती हैं। जिस पड़न में लगभग दस शाखाएँ होती हैं, उसे 'दसिअइन' कहते हैं। गया जिले में लोग इसे 'दसअइन' पड़न कहते हैं। मोहनपुर की दसिअइन पड़न, करपी का दसिअइन नाला, कुर्था का गंगहर नाला आदि इसके उदाहरण हैं।

पड़नें गया और नवादा जिलों में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर हर जगह पड़नें निकाली गई हैं। यहाँ की नदियाँ — मोरहर, लिलाजन, मोहाने, फल्गू, ढाढर, मंगुरा, जकोरी, तिलैया, खूरी, धनार्जी, सकरी, नाटा, बघेल आदि छिछली हैं और वर्षा होने पर उफन पड़ती हैं। नदियों के उफनने के साथ पड़न चालू हो जाती है। इन नदियों का लगभग पूरा पानी सिंचाई कार्य के लिए उपयुक्त होता है।

पड़नें सिंचाई का कार्य केवल वर्षा काल (जुलाई-सितंबर) में करती हैं।

कुछ स्थानों पर वर्षा ऋतु के अंतिम चरण में उत्तरा और हथिया नक्षत्रों में पड़न के मुहाने के नीचे कच्चा बाँध लगाकर पूरे जलप्रवाह को खेतों की ओर मोड़ दिया जाता है। मोहाने नदी से निकलने वाले मानपुर प्रखंड की मोराटाल पड़न तथा पुनपुन नदी के नौरंगा और मोतेपुर बाँध से निकलने वाली पड़न इसके उत्तम उदाहरण हैं। आज कच्चे बाँधों के स्थान पर नदियों में कुछेक जगहों में स्लुइस गेट, बैराज या वियर बना दिए गए हैं।

ठाट एवं दह

मगध में ऊँची, चौड़ी, पठारनुमा आकृति को ठाट कहते हैं। यह अनुर्वर भूमि होती है। इस पर होनेवाली वर्षा के जल को सीधे खेत में या आहर में भरने की बहुत अच्छी व्यवस्था रही है। वर्तमान मगध विश्व विद्यालय एवं उसके दक्षिण के इसी ठाट से कई आहर एवं पड़नें निकाली गई थीं, जिनमें बने पक्के फाटकों के अवशेष अभी भी देखे जा सकते हैं।

इसके विपरीत दह होता है। दह संस्कृत के हृद शब्द का पर्यायवाची रूप में एवं झरने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। पुरानी नदियों में सोन एवं पुनपुन ने बार—बार अपनी धाराएं बदली हैं। इनकी पुरानी धारा में भी बरसाती जल पर्याप्त मात्रा में यूँ ही बहता रहता है। इसे दह कहते हैं। धान की खेती ऐसे इलाकों में खूब होती है और अब यह रबी से अधिक गर्मा सब्जी के लिए उपयोगी हो रहा है। दह क्षेत्र में अनेक स्थानीय तीर्थ हैं। देवकुंड उनमें से एक है।

लघु सिंचाई योजना के प्रयास

सिंचाई विभाग के समानांतर लघु सिंचाई विभाग ने भी छोटे—छोटे वीयर और बराज बनाकर कई बरसाती नहरें बनाई हैं। ऐसे वीयर और बराज बटाने, मोरहर, निरंजना, सकरी, ढाढर आदि नदियों पर बने हुए हैं। चपरदह गाँव में यमुने पर वीयर बाँध है। बटाने, मोरहर, तिलैया आदि नदियों पर छोटे बराज हैं। इनसे बरसाती नहर एवं पड़न निकाली गई हैं। नहर वाला निर्माण नया है किन्तु निमसर आदि स्थानों पर पहले जहाँ कच्चा बाँध लगता था, वहीं बैराज बनाया गया है।

बैराज के स्वयं सोने वाले फाटक

इन बैराजों में दो प्रकार के फाटक लगे हैं। बड़े और चौड़े आकार के

फाटक पुली एवं गियर से उठाये जाते हैं। छोटे आकार के फाटक पेंदी पर जल का दबाव रहने पर अवरोधक का काम करते हैं किंतु पड़न एवं नदी की रक्षा के लिए पानी बढ़ने पर वे स्वयं सो जाते हैं। सुरक्षा की दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इन्हें पुनः खड़ा करना पड़ता है। आलसी किसान एवं लघु सिंचाई विभाग के कर्मचारी इन्हें बहुत कोसते हैं। इनकी बनावट अति सरल है। बड़े फाटकों की मरम्मत एवं देखभाल ठीक ढंग से न होने से इनमें अनेक खराब हो गए हैं और कुछ के सामने सिल्ट जमा हो गई है। सोने वाले छोटे फाटक कम खराब हुए हैं।

परंपरागत प्रबंधन की प्रथा एवं परंपरागत कानून गोआम

जलाशय निर्माण एवं उसकी सालाना मरम्मत के लिए आम आदमी का सम्मिलित प्रयास गोआम कहा जाता है। गोआम में श्रमदान एवं नगद या सामग्री सहयोग— सब सम्मिलित होते हैं। आज भी गोआम के प्रति विश्वास बना हुआ है किंतु अगुआई करने वाले बदल रहे हैं। जमींदारों की जगह सामाजिक कार्यकर्ता एवं स्थानीय रंगदार अगुआई करने लगे हैं। कुछ जगह नई बनी कमीटियाँ भी हैं। गोआम का मुख्य आधार आबपाशी रजिस्टर के वर्णन एवं स्मृति परंपरा में चली आ रही बातें होती हैं। इस रजिस्टर में निर्माण, देखरेख, बंटवारा आदि सभी जरूरी बातों पर अधिकार एवं कर्तव्य का स्पष्ट वर्णन रहता है।

गोआम एक प्रथा है। श्रमदान आधुनिक शब्द है। गोआम अपनों द्वारा अपने लिए है। श्रमदान में दान का अहंकार एवं झूठे परोपकार का पाखंड भी है। जब काम अपने लिए है तो केवल श्रम का ही दान क्यों और कैसे? गोआम में तन से श्रम, मन से संकल्प, योजना, सहभागिता के साथ अनुशासन एवं तन—मन से अर्जित धन का दान, तीनों सम्मिलित हैं। तन एवं मन से सहभागिता अनिवार्य है। धन सामर्थ्य एवं श्रद्धा पर निर्भर रहता है। गोआम मुख्य रूप से जल भंडारण हेतु बने आहर—पोखर—तालाब तथा उन्हें भरने एवं उनसे निकलने वाली छोटी—बड़ी पुरानी प्रवाह प्रणालियों अर्थात् पड़नों को दुरुस्त रखने के लिए प्रतिवर्ष नियमित रूप से किया जाने वाला कार्य है।

इसकी तिथियाँ या तो निश्चित रहती थीं या जमींदार आपसी परामर्श से तय करते थे। कुछ पड़नें बड़ी एवं कई जमींदारों के इलाके से गुजरती थीं। वहाँ सबकी जिम्मेवारी की सीमा एवं स्वरूप, सब निश्चित थे और उसका उल्लेख आबपाशी दस्तावेजों तथा पड़न के खतियान में होता है। खतियान में जलग्रहण क्षेत्र, प्रवाह पथ, पानी पर अधिकार, मात्रा एवं समय की दृष्टि से जरूरी सभी प्रकार

की बातों का उल्लेख रहता है।

यह सब मिल-जुलकर सामुदायिक ढंग से होता था। इसका नेतृत्व कहीं जमींदार, तो कहीं जेठ रैयत करते थे। गांव के धनी या प्रमुख व्यक्ति को जेठ रैयत कहते थे। यह सब अंगरेजों के जमाने के पहले से चल रहा था, जिसे ब्रिटिश काल में कानून बनाकर और उसमें अफसरों की निर्णायक भूमिका तय कर उसे नया रूप दिया गया। कहीं-कहीं पक्कीकरण का काम भी किया गया। चूँकि यह सब विकेंद्रित रूप से चल रहा था और इन प्रणालियों के निर्माण, रखरखाव, मरम्मत, पानी के वितरण आदि का काम जनसहयोग पर आधारित था अतः मजदूरी, सामग्री और नगद या तीनों में से एक या अधिक आधार पर जिम्मेवारी तय थी। ऐसा न करने पर जुर्माना भी लगता था और किसी के आचरण से अगर किसी को हानि होती थी तो उसके लिए हरजाने का भी प्रावधान था।

ये सारी बातें अंगरेजी राज में विधिवत पुनः लिपिबद्ध की गईं, जिसकी व्यवस्था सम्राट शेरशाह एवं टोडरमल ने कर रखी थी। वैसे आहरों के कई दरवाजे तो गुप्तकालीन ईंटों तक के मिले हैं।

इसका विस्तृत वर्णन बिहार प्राइवेट इरिगेशन ऐक्ट, 1932 एवं उसके आधार पर 1988 तक बनते-सुधरते कानून, जिला गजेटियर, फर्द आबपाशी रजिस्टर एवं खतियानों की पंजियों में भरा पड़ा है जो जिला मुख्यालय के रिकार्ड रूम में रखा रहता है। जमींदारों एवं जेठरैयतों के बीच आपसी मुकदमे एवं फ़ैसलों से पुराने कानूनी रिपोर्टों की जिल्दें भी भरी पड़ी हैं। इनमें पानी पर स्वामित्व संबंधी अनेक विवरण हैं।

इसके समानांतर सरकार द्वारा पूर्णतः नियमित, निर्मित एवं संचालित सिंचाई व्यवस्थाओं के लिए ब्रिटिश हुकुमत में संयुक्त प्रांतों की स्थिति में कानून बने। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी नहर, लिफ्ट नहर, जल नियंत्रण, ट्यूबवेल आधारित सिंचाई एवं सरकारी, गैर-सरकारी नलकूप और भूमिगत जल दोहन के लिए अनेक अधिनियम एवं उनके आधार पर नियमावलियाँ तैयार और लागू की गईं।

गोआम पहले जमींदार की अगुआई में होता था। सिंचाई व्यवस्था जमींदार की जिम्मेवारी थी। फसल की हिस्सेदारी के रूप में कर की जहाँ परंपरा थी, जिसे दानाबंदी कहते थे वहाँ कम फसल से कर प्रभावित होने का खतरा था। जमींदार

गए। नई राज्य व्यवस्था में जिम्मेवारी—रहित स्वतंत्रता और स्वनिर्णय की स्वतंत्रता, दोनो मिली। आम आदमी की संपत्ति सरकार की मानी गई किंतु सरकारी कर्मचारी का वेतन फसल से जुड़ा नहीं रहा तो गोआम की पहल कौन करे?

इस स्थिति में कुछ गाँवों ने स्वनिर्णय की स्वतंत्रता का रास्ता पकड़कर और स्वायत्त समितियाँ बनाकर सामूहिक प्रयास के नमूने प्रस्तुत किये जो पहले से भी अच्छे हैं। केवल सरकार का मुहँ देखनेवाले कुछ गाँव परावलंबी हो गये।

पानी पर अलिखित परंपराओं का विस्तार बहुत अधिक है जिन्हें विभिन्न कालखंडों में मान्यता मिलती रही है और थोड़े-बहुत अंतर से अलिखित परंपराएँ लिखित कानून का भी आधार बनती रही हैं।

दक्षिण बिहार जो प्राचीन काल में करुष, मगध, अंग आदि नामों से जाना जाता था, प्राचीन काल से ही विकसित क्षेत्र रहा है। अतः पानी संबंधी विवादों के समाधान एवं जल व्यवस्था को संरक्षण देने के लिए राज्य, समाज एवं धर्म से संपोषित कानून तथा परंपराएँ यहां बनती—सुधरती एवं स्थापित होती रहीं। कौटिल्य से पालवंशीय शासनकाल और उसके बाद शेरशाह के समय तक व्यवस्थित प्रावधान हुए। उसके बाद अंग्रेजों ने भी लगान वसूली को ध्यान में रखकर अनेक प्रकार के नए कानूनी प्रावधान किए। चूँकि बिहार जल जमाव एवं बाढ़ से भी ग्रस्त रहता था, अतः जल निकासी एवं तटबंधों की रक्षा, मरम्मत, नलकूपों के निर्माण, संचालन आदि के संबंध में भी कानून, नियमावलियाँ आदि बनाई गईं। स्वतंत्र भारत में भी उसी तर्ज पर विधि—विधान की प्रक्रिया चल रही है।

गोहार

गोहार आपातकालीन आमंत्रण पर जनसमुदाय का अचानक इकट्ठा होकर आग, पानी या जानवर या मनुष्य से उत्पन्न संकट को रोकने की सामाजिक प्रणाली का नाम है। गोहार के लिए समाज का कोई भी व्यक्ति आवाज उठा सकता है, जिसे संकट दिखाई पड़े। इसमें नेतृत्व या वर्चस्व का संकट नहीं होता और न ही कोई पूर्व योजना होती है।

पानी का नया कानून और दक्षिण बिहार

दक्षिण बिहार की भौगोलिक संरचना उत्तरी बिहार से भिन्न है। फिर भी,

कुछ क्षेत्रों की सिंचाई व्यवस्था समान है, जैसे — गंडक नहर और सोन नहर क्षेत्र के कायदे कानून जो अंग्रेजी राज में बने।

आजादी के बाद सिंचाई के मामले में विदेशी एजेंसियों की सीधी दखल नहीं थी। 1993 के आसपास विश्व बैंक की अभिरुचि बढ़ने पर बिहार में नया कानून 1997 में अस्तित्व में आया। यह उदारीकरण का आरंभिक दौर था। बिहार ही नहीं, पूरे भारतवर्ष में कानूनों को बदलने की मुहिम चलाई गई और निजी भागीदारी को अनिवार्य बनाया गया। आंध्र प्रदेश को आदर्श घोषित किया गया।

यह कानून 1997 में लागू तो हो गया जरूर, पर इसने जन सहभागिता आधारित पारंपरिक सिंचाई व्यवस्था को लगभग नजरअंदाज कर दिया। इसका प्रमाण 2003 में बनी नियमावली को देखने से मिल जाता है।

कुल मिलाकर नजारा यह है कि दक्षिण—बिहार के लगभग सभी जिलों में अभी भी अस्तित्व वाली एवं अनेक जिलों में सर्वप्रमुख सिंचाई प्रणाली के रूप में जनसहयोग आधारित आहर—पड़न पद्धति के संचालन के लिए नियमावली ही नहीं बनाई गई। चाहिए यह था कि 1922 से 1988 तक बनी नियमावलियों, संशोधनों, एवं अदालती फैसलों से प्राप्त डिक्री के आधार पर विस्तृत नियमावली बनाई जाती और सामान्य रैयत से लेकर सरकारी अधिकारियों तक की भूमिका तय कर दी जाती किंतु पता नहीं किन कारणों से ऐसा नहीं किया गया। 1997 के अधिनियम के अध्याय 7 में निजी सिंचाई अर्थात् प्राइवेट इरिगेशन को कानूनी स्वीकृति दे दी गई, इतना ही खैरियत है।

इस अध्याय के प्रावधानों के साथ पूर्व के कानूनी निर्णयों को मान्य रखा गया, जिन्हें जानना—ढूँढना पढ़े—लिखे किंतु कानूनी प्रक्रिया से अपरिचित आदमी के लिए भी संभव नहीं है। अधिनियम एवं नियमावली को पढ़ना, समझना, समझाना आसान था।

लोक सहभागिता की कानूनी उलझनें

इस अधिनियम (1997) की मूल भावना है — प्रबंधन में निजी भागीदारी को बढ़ाना। नहरी क्षेत्रों में तो जल उपभोक्ता संघों (वाटर यूजर एसोसिएशन) को मान्यता दे दी गई जहाँ पहले से निजी सहभागिता नहीं थी। सिर्फ करहा या नाली

(विलेज चैनल) पर सट्टेदार होते थे। उनकी जिम्मेदारी थी कि वे किसानों के आपसी सहयोग से सालाना सफाई, मरम्मत का काम कराएं। नए कानून में शाखा एवं वितरणियों जैसी हजारों हेक्टेयर कमांड क्षेत्र वाली संरचनाओं को जल उपभोक्ता संघों को देने का प्रावधान कर दिया गया है। इसके साथ ही साथ कंपनियों, फर्मा, एवं एजेंसी के नाम पर व्यक्ति विशेष तक को प्रबंधन सौंपे जाने का प्रावधान कर दिया गया है। बिहार सरकार के जल संसाधन विभाग एवं वाल्मी की ओर से कार्यशालाएँ और प्रशिक्षण भी आयोजित किये गए हैं और सरकारी स्रोतों के अनुसार कुछ जगहों पर जल उपभोक्ता संघ गठित कराकर उन्हें काम भी सौंपे गए हैं।

इस मामले में आश्चर्यजनक रूप से दो मामले समझ के परे हैं —

क. जल उपभोक्ता संघ का चैरिटेबुल संगठन के रूप में पंजीकृत होने की अनिवार्यता।

ख. सहकारी संगठन को प्रबंधन सौंपने योग्य न माना जाना।

वस्तुतः नहरी क्षेत्र में जल उपभोक्ता संघ पूर्णतः लाभार्थी समूह है। पूरा समूह मिलकर अपने लाभ का काम करता है न कि चैरिटी का।

इसका मतलब होता है कि असली लाभार्थियों से भिन्न सदस्यों द्वारा कोई चैरिटेबुल संस्था बनाई जाय और वह जल उपभोक्ता संघ का काम करें या अगर असली किसानों का संगठन जल उपभोक्ता संघके रूप में पंजीकृत हो भी जाय तो सरकार जब चाहे जिस संघ को गैरकानूनी घोषित कराकर भंग कर दे। सहकारिता अधिनयम में संशोधन के बाद स्ववित्तपोषित सहकारी समिति के रूप में जल उपभोक्ता संघका निबंधन हो सकता था किंतु नीति-निर्माताओं ने इसे उचित नहीं माना।

संगठनात्मक पेंच

दरअसल जल उपभोक्ता संघकी सदस्यता का आधार तय करना कठिन है। नए कानून के अनुसार जो व्यक्ति नहर के पानी से लाभान्वित होगा वह गाँव के स्तर की समिति का सदस्य हो सकता है। पहले नहर विभाग के साथ केवल भूमिधारी किसानों का समझौता होता था। बटाईदारों के मामले में यह कानून मौन है। साथ ही, पानी एवं नहर विभाग की संपत्ति तथा उत्पादों से लाभान्वित होने वाले भी सदस्य बन सकेंगे, ऐसी परोक्ष सहमति है क्योंकि ये सभी भी लाभान्वित होने वाले लोग हैं। चुनाव चूँकि मतदान पर आधारित होता है अतः सदस्यता, मतदान आदि पर स्पष्ट प्रावधान जरूरी था अन्यथा सही लाभार्थी किसान एवं अन्य में अंतर कर पाना कठिन हो जाएगा। किसानों में भी बड़े एवं छोटे किसानों के आधार पर सदस्यता हो, परिवार के आधार पर हो या वयस्क मताधिकार के आधार पर हो, यह भी निश्चय करना पड़ेगा। ये सभी मामले अत्यंत संवेदनशील हैं। इन सबों का आधार तय होना अभी भी बाकी है। इनके अभाव में तब तक सरकारी पदाधिकारियों की मर्जी ही कानून है।

वर्तमान स्थिति

लोक सहभागिता से सिंचाई के लिए पहले जो उपाय किए जाते थे, वे निर्माण, मरम्मत, सालाना निर्माण, व्यवस्था, प्रबंध या बँटवारे के ही क्यों न हो, उन पर जमींदारी लागू रहने तक पूर्वलिखित नियमवाली, रजिस्टर तथा आबपाशी कानूनों के आधार पर निर्णय होते थे। जमींदारी उन्मूलन के बाद आरंभिक प्रयास—पहल करने की जिम्मेवारी अनिश्चित हो गई कि कौन पहल करे और किसकी बात क्यों मानी जाय?

पड़न—आहर की संरचनाएँ भौगालिक आधार पर होती हैं और उनकी बनावट के हिसाब से तो प्रशासनिक इकाइयाँ बनी नहीं हैं, चाहे वे पंचायती राज व्यवस्था की हों या शुद्ध सरकारी।

नहर, सड़क, टेलिफोन, आदि की व्यवस्था के लिए समनांतर प्रशासनिक इकाइयों एवं क्षेत्र विभाजन की तरह आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार क्षेत्र तथा व्यवस्था संचालन की इकाइया बनाई ही जाती हैं परंतु गैर—नहरी क्षेत्र के लिए यह समस्या जमींदारी के समय से बनी हुई है। नदियाँ भले ही कई रजवाड़ों के क्षेत्र से गुजरती हों, सिंचाई वाले जलाशय एवं पड़न तो एक राजा के अधीन रहते थे। इसी

कारण अंग्रेजी राज में फुटकर जमींदारों के अस्तित्व में आने के बाद पानी के लिए झगडा आम बात हो गई थी ।

आज भी समस्या बरकरार है । खैरियत इतनी ही है कि जिलाधिकारी की भूमिका निर्णायक होने से कुछ बड़ी पड़नों को छोड़कर शेष के बारे में निर्णय करना एक जिलाधिकारी के लिए तो आसान हो ही जाएगा । उसके लिए क्षेत्राधिकार की समस्या नहीं होगी । जहाँ लोक सहभागिता पहले से ही हो, वहाँ के लिए व्यवस्थित प्रावधान बहुत जरूरी है, जो परंपरा पर आधारित भी हो और न्यायपूर्ण हो ।

अध्याय चार : सुनहले भविष्य की ओर

समस्याएँ

उपर्युक्त सारी सिंचाई व्यवस्थाओं में से कुछ व्यवस्थाएँ बरबाद हो रही हैं। यदि अभी समुचित ध्यान नहीं दिया गया तो अगले पच्चीस वर्षों में ये समाप्त हो जाएँगी।

पड़न की देखरेख एक लंबे भूभाग में करनी पड़ती है। यह कच्ची होती है तथा इसमें बालू भर जाता है, जिसकी नियमित उड़ाही करनी पड़ती है। किनारों को भी टूटने से रोकना पड़ता है। पहले ये सारे काम जब इलाके के जमींदारों के जिम्मे थे तो हो जाते थे। आज ये बिहार सरकार के अधीन हैं। इन पर अधिकारियों का ध्यान नहीं होता। जब किसी क्षेत्र में आंदोलनात्मक रुख अपनाया जाता है तभी पड़न मरम्मत की खानापूरी होती है। कई जगहों में पूर्व जमींदार या रंगदार लोग आहर-पड़न को भरकर मकान और खेत बना रहे हैं जबकि इस व्यवस्था को सुरक्षित रखना आवश्यक है।

स्थायी जल प्रबंधन के विविध पक्ष

सामाजिक

जल का प्रबंधन हो और वह भी ऐसा कि समाधान स्थायी हो यह लक्ष्य अच्छा है और यह मनुष्य की स्थायी चिंता का विषय रहा है।

यूरोपीय विस्तारवादी दृष्टि ने एक अभूतपूर्व अतार्किक, भ्रामक एवं मूर्खतापूर्ण सोच पाल रखी है कि आधुनिक मानव माडर्न सायंस एवं टेक्नोलॉजी के बल पर कुछ भी कर सकता है। यह दृष्टि सायंटिफिक कम धोखाधड़ी वाली अधिक है।

इसमें पहले तो प्रकृति का अर्थ छोटा कर दिया जाता है। मनुष्य, समाज एवं इसकी उपलब्धियों को प्रकृति से अलग प्रकृति के विरुद्ध जीने के रूप में दर्शाते हैं। पर्यावरण एवं प्रकृति तो विराट व्यवस्था का पर्यायवाची है, उसके विपरीत या उससे अलग तो कुछ होता ही नहीं है।

छोटे स्तर पर की गई फेरबदल को, जिसकी संभावना प्रकृति में ही निहित

है, प्रकृति पर विजय घोषित करना सोद्देश्य है। वह उद्देश्य है — माडर्न सायंस एवं टेक्नोलोजी की सीमाओं, उलझनों, दुष्परिणामों, आशंकाओं पर पर्दा डालना। अर्थ एवं राजनीति के प्रपंच मिलकर चित्र—विचित्र आडंबरी सिद्धांत गढ़ते हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी भारत में हिमालय और समुद्र दो निर्धारक बिंदु हैं जो जलप्रवाह की दिशा तय करते हैं। एक इंजीनियर जब किसी नेता या समूह को प्रसन्न करने के लिए बाँध या तटबंध की डिजाइन बनाता है तो वह इन दोनो बिंदुओं की परवाह किये बगैर स्थानीय ढाल एवं बनावट के आधार पर डिजाइन तैयार करता है। उस निर्माण पर हिमालय आधारित वर्षा की मात्रा, गाद एवं वेग का प्रभाव पड़ना ही है।

प्रकृति जब बहुआयामी है तब मनपसंद आयामों एवं कारकों को आधार बनाकर वास्तविक उपलब्धि का भी तो आकलन होना चाहिए—चाहे वह स्थूल हो या सुख—दुख जैसी मानसिक, इससे तात्कालिक लाभ एवं दीर्घकालिक हानि। सृजित मजदूरी में से विस्थापित मजदूरी एवं उत्पादन को भी घटाकर ही वास्तविक हानि—लाभ का गणित बन पायेगा। अन्यथा किसी भी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।

कुछ लोग इस विषय को विकास के मॉडलों की बहस में ले जाते हैं। मॉडल चाहे जो हो, पानी तो चाहिए ही। साथ ही, पेयजल की प्राथमिकता को कैसे नकारा जा सकता है? इसी तरह की अन्य प्राथमिकताओं पर भी विचार तो करना ही होगा।

आज समाज दो अंतर्विरोधों में फँसा है। एक ओर वह प्रजातंत्र की चाह रखता है, दूसरी ओर बड़ी पूंजी आधारित केंद्रित एवं जटिल परोक्ष व्यवस्थाओं के पक्ष में है। धनी एवं गरीब की संख्यागत अभिवृद्धि कुछ देर तक तेजी से चलती है, मध्यम वर्ग टूटकर दोनों की संख्या बढ़ाता है किंतु धनी वर्ग जिम्मेवारियों से बचने की जो चालाकी करता है उससे संपूर्ण प्राकृतिक व्यवस्था चरमरा जाती है। मालवा क्षेत्र में इस साल पानी की बहुत कमी है। शिप्रा, गंभीरा और उसके सहायक नालों के पानी के एक बड़े भाग का उपयोग बिड़ला समूह करता है। क्या जल प्रबंधन का स्थायी समाधान उसकी चिंता का विषय नहीं होना चाहिए?

कारपोरेट कुप्रबंधन एवं युद्ध या गृहयुद्ध के माध्यम से लूट यूरोपीय पूंजीवाद की आधारशिला है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इसके अनेक उदाहरण सबको ज्ञात होंगे। आज पानी के लिए विश्वयुद्ध की आशंका की बात जोरों पर है। यह सोद्देश्य है। यह इसलिए प्रचारित किया जा रहा है कि पानी को अधिकतम

बाजारू, विक्रययोग्य बनाने की प्रक्रिया पर आम आदमी सवाल न खड़ा करे। बाजार के युद्ध को राज्य, राष्ट्र एवं आम आदमी का युद्ध घोषित कर, युद्ध को नैतिक बताकर असली चालबाजी पर पर्दा डाला गया।

इन बातों पर ध्यान दिलाना इसलिए जरूरी है कि स्थायी जल प्रबंधन की योजना एवं उनकी सफलता बिना सामाजिक आर्थिक कारकों की प्रासंगिकता को ध्यान में रखे न तो समझी जा सकती है न ही उसे साकार किया जा सकता है। पहले भी जो पीने, नहाने या सिंचाई के लिए जलाशय एवं प्रवाहपथ बने थे। उन्हें राज्य, समाज एवं धर्म, तीनों का संरक्षण प्राप्त था। इन्हें क्षति पहुँचानेवालों के लिये कठोर दंड का प्रावधान था। मनुस्मृति में चाणक्य के अर्थशास्त्र एवं अन्य ग्रंथों में तो इसके विवरण हैं ही, मध्यकाल एवं ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में भी इन नियमों—परंपराओं का समकालीन दस्तावेजीकरण लगातार चलता रहा है। इसका विशाल साहित्य है। मेरी समझ से अगर इसे टंकित किया जाए तो अब तक ज्ञात भारतीय स्रोतों का आकार दस हजार अखबारी पन्नों से कम नहीं होगा।

तकनीकी पक्ष

पुराने समय की तकनीक में कुछ बातों का मुख्य रूप से ध्यान रखकर व्यवस्था बनाई जाती थी जिसकी अब प्रायः अनदेखी की जाती है। जैसे :

1. जलचक्र चलता रहेगा अतः पानी के आने, ठहरने, उपयोग करने एवं जाने — सभी पक्षों पर ध्यान देना जरूरी है।

मेरे अनुमान से आज पानी के आने पर 66 प्रतिशत, उपयोग करने पर 80 प्रतिशत, ठहरने पर 60 प्रतिशत एवं जाने पर 20 प्रतिशत ध्यान दिया जाता है। किसी भी तरह किसी भी रूप में पानी मिले, उसका उपयोग हो —बस यही तात्कालिकता वाली दृष्टि है। कहाँ से आये, कितना आये, उपयोग किया हुआ गंदा पानी कहाँ जाये, शेष जल कहाँ जाय, अन्य लोगों को कैसे मिले —जब इन बिंदुओं पर ध्यान दिया जाता है तब स्थायी समाधानमूलक उपाय प्रगट होने लगते हैं। स्थायी समाधान में तात्कालिकता नहीं चलती।

2. भूमिगत जल सीमित है। इसे निकालना कई बार कष्ट साध्य होता है और गुणवत्ता की दृष्टि से भी सदैव ठीक नहीं होता।

लेकिन आज भारत सरकार का केंद्रीय भूजल बोर्ड सूखाग्रस्त गया शहर में लोगों को पर्चा बाँटकर, गोष्ठी आयोजित कर समझाता है कि भूमिगत जल पर्याप्त एवं पूर्णतः सुरक्षित है। समझाते समय वह फ्लोराईड जैसे खतरनाक एवं लोहा, मैग्नीशियम जैसे रसायनोंकी अधिक मात्रा में उपस्थिति को जान-बूझकर दरकिनार कर देता है जबकि यहाँ कि भूगर्भीय संरचना का अध्ययन बोर्ड ने किया है। उसकी अपनी विस्तृत रिपोर्ट एवं समाज के लिए दिए गए सुझाव में कोई तालमेल नहीं है।

3. पारंपरिक तकनीक में जल के साथ रहने वाली जैव-अजैव सामग्रियों के प्रबंधन का भी ध्यान रखा जाता था। आज गाद जैसे महत्वपूर्ण घटक के बारे में भी चिंता नहीं की जाती है और निरंतर गाद निकालने या कम से कम सालाना स्तर पर गाद निकालने के बारे में भी चिंता नहीं की जाती।

चाहे पुराना तालाब हो, नया बांध हो या तटबंधों से घिरी नदियाँ —सभी स्वयं रूग्ण हैं और कभी-कभी बाढ़ जैसी विनाशलीला भी देखी जा रही है।

4. भूमिगत जल का उपयोग पहले कुओं के माध्यम से होता था। सारस्वत मुनि एवं वराहमिहिर के नाम से स्थापित उद्कार्गला के अंतर्गत भूमिगत जल खोजने की विधियाँ संकलित हैं। इससे ये विधियाँ एक कुएँ की गहराई तक ही सीमित हैं। नलकूपों के लिए पर्याप्त नहीं हैं। परिणामतः भूजल का कम दोहन करने वाली हैं। नलकूपों की लोकप्रियता ने व्यक्तिवादी दृष्टि को समर्थन दिया है। फलतः भारत को मिली आजादी का अर्थ घर-घर में बिना नाली या सोखता की व्यवस्था किए हुए सार्वजनिक सड़क को जल जमाव एवं मच्छर पालन करने की स्वतंत्रता हो गई है। ऐसे उदाहरणों की संख्या अनंत है।

आर्थिक पक्ष

मुझे पता नहीं, कब से पानी बिकाऊ माल हो गया। पानी के ऊपर एडम स्मिथ के सिद्धांत लागू होते भी हैं और नहीं भी। बोतल का पानी अलग है और जलाशय का पानी अलग। बोतल का पानी अपने मूल ऊर्जा स्रोत अर्थात् वर्षा, प्रवाह एवं समुद्र के मिलन से कटा हुआ है जबकि नदी, बांध, तालाब, झील आदि का पानी निरंतर प्राकृतिक बलों एवं प्रक्रियाओं से नियंत्रित होता है। वैसा पानी कभी जानवर की तरह, चल संपत्ति की तरह बिक्री योग्य, कभी सेवा शुल्क के रूप में नापने योग्य तो कभी क्षतिपूर्ति के रूप में भी पहचानने लायक बन जाता है।

परंपरागत दृष्टि में उपभोग और संरक्षण के बीच सीधा संबंध रखा जाता था। संरक्षण पर बल अधिक था। इसे धर्मकार्य और पुण्यकार्य, दोनों माना जाता था। सिंचाई व्यवस्था के लिए लाभ-हानि और खरीद-बिक्री का सिद्धांत स्वीकृत था किन्तु पीने के पानी को बाजार के गणित से बाहर रखा गया था। सेवा शुल्क वस्तुतः सेवा के अनुसार होता था, पेयजल के लिए नहीं। आज दुनिया के हर चीज को बिक्री योग्य बनाने की होड़ मची हुई है।

जलाशयों में वर्षा के एकत्रित जल पर अपना हक माननेवाले भी— चाहे वह सरकार को कंपनी या जल उपभोक्ता संघ—अपने हक की लड़ाई तो लड़ते हैं पर कर्तव्य का नाम सुनना नहीं चाहते। यह कैसा एकतरफा आर्थिक रिश्ता है? गाय के पिछवाड़े पर हक मेरा अगाड़े पर दूसरों का। दूध मैं लूँ और चारा खिलाएँ आप। पानी का भंडार या बांध लेने के लिए तैयार है लेकिन उसी बाध से हुई बबार्दी की क्षतिपूर्ति करने को कोई तैयार नहीं है।

भविष्य दूरदर्शी का है

पहले जब कभी किसी ने तालाब, आहर, पड़न या कुँआ बनाया, उसने समाज के हित के लिए धर्म भावना से किया, परोपकार न सही, अपनी अगली पीढ़ी के हित के लिए किया क्योंकि इन्हें बनाने और प्रयोग करने में काफी समय लगता है और धैर्य रखना पड़ता है। जलाशयों का उपयोग अपने जीवन में हो भी जाय तो भी अगली पीढ़ियों का हित तो ध्यान में रखा ही जाता है। इसलिये जरूरी है कि नये आहर-पड़न बनें। जो पुराने बने हुए हैं, उन्हें बचाना और उन पर कब्जा बनाए रखना भी जरूरी है।

मगध जल जमात

मगध क्षेत्र में पानी के समस्या के समाधान हेतु प्रयासरत इस जमात की अपनी एक सुविचारित नीति है, जो मगध क्षेत्र की जल नीति नाम से प्रकाशित-प्रसारित है। इन नीतियों से सहमत किसी भी व्यक्ति या संस्था का जमात में स्वागत है। इस संगठन का उद्देश्य जनता के अभिक्रम को जगाना एवं जल संरक्षण के लिए आंदोलन खड़ा करना है। सारे कार्यक्रम स्वैच्छिक दान एवं चंदे से चल रहे हैं।

लेखक का परिचय

डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक पेशे से कालेज में पढ़ाते हैं। साथ ही बिहार के मगध क्षेत्र में जल संरक्षण का काम सेवा भाव से करते हैं। मगध जल जमात नामक सामाजिक संगठन के संयोजक हैं। भारत की विभिन्न परंपरागत लोक विद्याओं के समर्थन, प्रषिक्षण तथा उनके पक्ष में आंदोलनों से भी जुड़े रहे हैं। संस्कृत तथा पालि भाषा के जानकार हैं और योग, तंत्र तथा आयुर्वेद जैसी परंपरागत विद्याओं के सामाजिक सरोकार पर किताबें भी लिखी हैं।

आहर—पइन एक सिंचाई प्रणाली है, जो आज भी दक्षिणी बिहार में प्रचलित है। इसके अंतर्गत पानी के प्रवाह, संचय तथा बंटवारे के साथ आकस्मिक मरम्मत का काम भी गोआम प्रथा के अनुसार किसान स्वयं करते हैं। नये जमाने की नहर का आकर्षण लोगों में है लेकिन भौगोलिक बनावट के कारण आहर—पइन प्रणाली और उसे संचालन की गोआम व्यवस्था ही आज भी सफल और कारगर है? इसी बात को इस पुस्तक में स्पष्ट किया गया है। यह पुस्तक मुख्यतः आज के बदलते समय के किसानों की जिज्ञासाओं के समाधान हेतु लिखी गई है।



दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
(साउथ एशियन डॉयलॉगस् ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)